कुछ देखा, कुछ सुना

कुछ देखा, कुछ सुना

सत्साहित्य प्रकाशन

# कुछ देखा, कुछ सुना

घनश्यामदास बिड़ला

१९६६
सस्ता-साहित्य मंडल, नई दिल्ली

# प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक से हिन्दी के पाठक भलीभाँति परिचित हैं। मडल से उनकी कई पुस्तके प्रकाशित हुई है। 'गाधीजी की छत्रछाया मे', 'डायरी के पन्न', 'बापू', 'रूप और स्वरूप', 'ध्रुवोपाख्यान', 'श्री जमना-लालजी' आदि सभी पुस्तके लोकप्रिय हुई है और उनमे से कुछ के तो कई-कई सस्करण हो चुके हैं।

हमे हर्ष है कि लेखक की यह नई पुस्तक पाठको को सुलभ हो रही है। इसके कुछ सस्मरण तो विभिन्न पत्रो मे निकल चुके है, लेकिन 'वे दिन', 'मेरा शिक्षण' आदि हाल ही मे लिखे गए हैं।

लेखक की लेखन-शैली के विषय मे कुछ कहने की आवश्यकता नही है। वह अत्यन्त प्रवाह और प्रभावपूर्ण है। प्राय सभी रचनाएँ इतनी मार्मिक है कि पाठक आरभ करके उन्हे बिना समाप्त किये नही छोड सकता।

पुस्तक की सबसे बडी विशेषता यह है कि लेखक ने बडे-से-बड़े और छोटे-से-छोटे व्यक्ति तक पर लेखनी चलाई है। एक ओर पाठको को गाधी-जी, नेहरूजी, ठक्करबापा प्रभृति के सस्मरण पढने को मिलेगे तो दूसरी ओर उनका साक्षात्कार 'हीरा' और 'नाहरसिह' जैसे व्यक्तियो से भी होगा।

हम आशा करते है कि इस पुस्तक का सभी क्षेत्रो मे स्वागत होगा।

—मत्री

# विषय-सूची

# वे दिन

सवत् १९५१ की रामनवमी के दिन मेरा जन्म हुआ। मेरे पिताजी का बानवे वर्ष की आयु मे शरीर गया और मेरी माता ने शरीर छोडा सौ वर्ष पूरे करके। वैज्ञानिक कहते है कि दीर्घ आयु के इच्छुक को चाहिए कि जनमने से पहले ही वह लम्बी आयुवाले माता-पिता का चुनाव करे, या तो लम्बी आयु की अभिलाषा छोडदे। बतानेवालो ने यह नही बताया कि जनमनेवाला जनमने से पहले माता-पिता का चुनाव कैसे करे। पर कहनेवालो का तात्पर्य यह है कि दीर्घजीवी माता-पिता की संतान ही अक्सर दीर्घ-जीवी होती है। शरीर-शास्त्र-विदो की दृष्टि से इस प्रकार मैंने दीर्घजीवी माता-पिता का चुनाव किया, और यदि कोई दुर्घटना न हो तो माता-पिता की वदौलत मुझे एक लम्बी आयु का अच्छा पट्टा मिल गया है, ऐसा मान लेने मे कोई दोप नही है।

साधारणतया यह खयाल दिल मे उमग पैदा करता है, क्योकि लम्बी आयु का पट्टा हो तो मनुष्य कच्चे-पक्के कई मनसूबे बॉध सकता है और उनका स्वप्न ले सकता है। पर इस प्रश्न का एक और भी पहलू है। कभी-कभी यह भी सदेह होता है कि दीर्घायु यह कोरे लाभ की ही कलम है या हानि की भी। आदमी वुड्ढा होकर मरे, यात्रा के अन्तिम कदम तक पूर्ण स्वस्थ रहे, दिमाग दुरुस्त हो, परिवार के लोग सुखी और सम्पन्न हो, सन्तान सपूत

हो, तो अवश्य ही दीर्घायु एक दिलचस्प यात्रा बन जाती है। पर ऐसा न हो तब ? ऐसा न हो, तो जीवन एक कठोर कारावास बन जाता है, जिससे मुक्ति पाने की आशा मे ही मनुष्य जीवन के दिनो को गिनता रहता है।

निष्कर्ष यह कि भगवान् सारी सुविधाएँ दे, तो लम्बी आयु एक आशीर्वाद है। इसमे मीन-मेख हो, तो वह शाप है।

पाण्डवों को यह शाप नसीब हुआ। महाभारत के अन्त मे कुटुम्ब-नाश की पीड़ा उन्हे दु ख देने लगी। जीवन नीरस और दुस्तर बन गया। बन्धु-बान्धव और परिजन सब लडाई मे काम आये। हर तरफ केवल विधवाएँ, बुड्ढे या रोगी ही दिखाई देने लगे। राज तो मिला, पर रसहीन। बन्धु-बान्धवो के अभाव मे विजय का मजा किसकी संगत मे भोगे! जीत सारी किरकिरी बन गई। बुढापा भी आने लगा, तब ससार और भी सूना लगने लगा। ऐसे नीरस ससार मे युधिष्ठिर और सब भाइयो ने हिमालय पर चढकर जीवन त्यागने का सकल्प किया।

बुढापा और मौत किसीका पक्ष नही करते। राजा-रंक किसी को इन्होने नही छोड़ा। कृष्ण भी इनका मुकाबला नही कर पाये। युधिष्ठिर यह सब समझता था, इसलिए मृत्यु अपने-आप आये, उसके पहले ही उसने मृत्यु का साक्षात्कार करने का निश्चय किया।

यह सही कदम था। व्यास ने इसे अपघात नही बताया, क्योकि अपघात क्षणिक आवेश मे आकर प्राण छोड देने को ही कह सकते है। अग्रेजी मे इस अवस्था को क्षणिक पागलपन भी कहते है। पर सोच-विचार और निश्चय के अनुसार की गई दृढ योजना और उसी योजना के अनुरूप रोजमर्रा की पहाड़ की थका देनेवाली चढाई, खाना-पीना साथ जारी, पर मर-मिटने की अमिट चाह

और इस चाह को पूरी करने के लिए आक्सीजन-रहित स्थान पर हठ के साथ पहुँचना, यह अपघात नही, एक तरह की मृत्यु-योग की साधना समझनी चाहिए। योग का कोई एक प्रकार थोडे ही है। कर्मयोग है तो मृत्यु-योग भी क्यो नही!

जल-समाधि लेनेवाले भारत मे अनेक साधु-सन्यासी हुए है। पर उनका भी मानस क्षणिक होता है। मैने अपनी ऑखो से जल-समाधि लेनेवाले एक सन्यासी को देखा है। आवेश मे आकर जल मे कूदे कि पीछे हटने की कोई गुजाइश नही रह जाती। पर पाण्डवो को तो हर घडी पीछे हटने की गुजाइश थी। किन्तु उन्हे तो धीरज और शान्ति के साथ एक ध्येय के लिए शरीर छोडना था। यह धीरज उनका देह-पात के समय तक कायम रहा।

मतलब यह था कि जबतक शरीर से कुछ भलाई हो, तबतक उसका सग रखना, और जब इसका अभाव हो तब त्याग कर देना। यही इस योग का मूल सूत्र था।

इस योजना मे सबसे पहले द्रौपदी गिरी और उसके बाद एक-एक करके अन्य भाई गिरते गए। पर युधिष्ठिर ने इन गिरनेवालो की तरफ मुँह तक मोडने का कष्ट नही किया। न क्षोभ किया, न किया शोक या सन्ताप। वह चलता ही रहा, क्योकि यह सारा क्रम बुनियादी था और उसीके अनुसार ही घटना घटती जा रही थी। फिर क्या तो मुडना और क्यो शोक और सताप करना!

खैर, यह तो पाण्डवो की अन्तिम मृत्यु-योजना का विश्लेषण हुआ। बात तो यह है कि दीर्घायु, यह एक निर्मल आशीर्वाद नही है कि जिसकी ईश्वर से हर हालत मे माग की जाय। उपनिषद्कार ने कहा है कि सौ वर्ष तक हम काम करते-करते मरे। 'काम करते-करते मरे' इस निर्मल आशीर्वाद की पूर्वजो ने माग की है।

पर दीर्घायु माता-पिता की सन्तान होना लाभ का एक पहलू तो है ही, जिसका मूल्य भुलाया नही जा सकता और उस मूल्य को समाज का कर्ज मानकर उस कर्ज को अदा भी करना, यही जीवन का लक्ष्य है। जीवन और लम्बी आयु, यह भगवान् की दी हुई धरोहर है।

मेरा जब जन्म हुआ तो मेरे माता-पिता सुखी और सम्पन्न थे। इसके कई वर्ष पहले मेरे पितामह ने धन-उपार्जन कर लिया था। मेरे पिता के पितामह एक धनी परिवार के मुख्य मुनीम थे, जिनकी तनख्वाह शायद सात रुपया मासिक थी, तो भी उनका रुतबा और दर्जा काफी प्रतिष्ठित था। उस जमाने का सात रुपया माहवार कोई छोटी रकम नही मानी जाती थी।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी का वह जमाना था। अजमेर और मऊ की छावनी मे बडे साहबो का निवास था और इनका साहब लोगो से काफी सम्पर्क था। जब मेरे प्रपितामह मरे तो मेरे पितामह करीब सोलह साल के थे। मालिको ने इस जवान लड़के को भी अपने पिता के स्थान पर नौकरी मे आजाने का प्रस्ताव किया, पर उनकी स्वतन्त्र प्रकृति और उच्चाभिलाषा के कारण नौकरी ने इन्हे आकर्षित नही किया और अपनी माता की इजाजत लेकर वह बम्बई की ओर अपना भाग्य आजमाने को चल पड़े।

उन दिनो बम्बई जाना एक बड़ी समस्या थी। सुना है, पिलानी से निकटतम रेलवे-स्टेशन उन दिनो अहमदाबाद या इन्दौर था। मेरे पितामह ने अहमदाबाद के स्टेशन से बम्बई जानेवाली रेल पकड़ी। पिलानी से अहमदाबाद तक ऊँट पर सफर की। रास्ता उन दिनो विकट था। चोर, डाकुओ का खतरा था। इसलिए ऐसी यात्राएँ एक समूह के साथ होती थी, जिसे 'साथ'

कहते थे । दिनभर ऊँटो पर चलना और रात को किसी धर्मशाला मे या खुले मे पडाव डालकर पडा रहना, यह रोजमर्रा का क्रम था। पिलानी से अहमदाबाद पहुँचने मे शायद बीस रोज लगते थे । रास्ते मे तरह-तरह के दृश्य और भाँति-भाँति के लोगो से भेट, यह एक मजा था, जो आजकल रेल या हवाई जहाज की यात्रा मे नसीब नही होता ।

बम्बई मे मेरे पितामह ने सात साल लगातार परिश्रम और ईमानदारी से व्यवसाय किया और फलस्वरूप कुछ धन-सचय भी किया । सात साल के बाद जब वह पिलानी वापस लौटे तो सचित धन से पहली बुनियाद हवेली की डाली और साथ ही एक कुएँ और एक शिवालय की भी ।

भगवान् को भोग लगाकर खाना चाहिए, यह उनका सिद्धान्त था । **तेन त्यक्तेन भुंजीथाः**—यह उपनिषद् का वाक्य उन्होने नही पढा था, पर उनका विश्वास था कि भोग लगाकर खाने से भगवान् खानेवाले का भला करते है ।

प्रथम यात्रा का संचित धन प्राय हवेली, कुएँ और शिवालय मे खर्च हो गया, तब फिर बम्बई की ओर प्रस्थान किया। कुछ साल बाद उन्होने अपनी स्वतन्त्र दूकान सराफा-धन्धे की खोल दी । बाद मे मेरे पिताजी ने धन्धे को उन्नत किया और इस तरह जब मेरा जन्म हुआ तो हमारा परिवार सम्पन्न और उस जमाने के माप-दण्ड के अनुसार धनी परिवारो मे एक अग्रसर परिवार हो गया था ।

सपत्ति कोई अमिश्रित विभूति नही है। इसके दोनो पहलू है । लक्ष्मी की स्रोतधारा मे अमृत के साथ-साथ विप का प्रवाह भी बहता रहता है । **जड़-चेतन गुण-दोषमय विश्व कीन्ह कर-**

तार—इस लिहाज से लक्ष्मी भी गुण-दोपमय है। दोप को ग्रहण करनेवाला स्रोत का विपैला हिस्सा पीकर, मदमस्त होकर अपना सर्वनाश कर बैठता है और अमृत पीनेवाला अमर वनता है। कलाकार स्वरो की सरगम पर अगुलियाँ रखकर मनमोहक स्वरो से लोगो के दिलो को मोह लेता है और अनाडी उसी सरगम से लोगो के कानो को आघात पहुँचाता है।

परन्तु परिवार का सम्पन्न होना मेरे लिए घातक सावित नही हुआ, इसका कारण था हमारे परिवार की परम्परा।

मेरे पितामह और पिता दोनो सरल प्रकृति के, ईश्वर में श्रद्धा रखनेवाले, धर्मभीरु थे। उनकी जीवन-चर्या कठिन थी। एक तो वैसे ही मरुभूमि मे रहनेवालो का जीवन कष्टमय होता है, गर्मी मे वेहद गर्मी, जाडे मे वेहद जाडा। पानी का अभाव, आये साल अकाल, ऊँटो की यात्रा, सब्जी और फलो का पूर्ण अभाव। सभ्य कही जानेवाली सभी चीजो से अलगाव। ऐसी स्थिति का ऐश-आराम से कोई नाता नही जुडता।

यदि राजस्थानी महज राजस्थान मे ही रहते तो जीवन-निर्वाह भी कठिन था, इसलिए वाहर परदेशों की यात्रा करना और वहाँ वर्षों तक विना कुटुम्ब के रहना उनके लिए अनिवार्य था।

कलकत्ता-बम्बई का निवास भी इन लोगो के लिए सुखद नही था। वासे मे वीसो आदमियो के साथ सहवास, उनके साथ इकट्ठा खान-पान, एक-एक कमरे मे दस-दस आदमियो का शयनागार, पाखानों की तकलीफ और ऊपर से मच्छर और खटमल। ऐसे कठिन जीवन में कमाई करके घर लौटना और वहाँ विश्राम करके फिर परदेश जाना, यह प्रायः जीवनभर का क्रम था।

घर-गृहस्थी तो सारी राजस्थान मे ही रहती थी। महिलाओ को भी यह जीवन असाधारण और दु खमय नही लगता था। ऐसे जीवन मे उछरनेवाले लोग शायद ही मदमस्त हो सकते है।

मेरे दादा और पिता गर्मी के मौसम मे जब दुपहरी मे विश्राम करते, तो हवेली के सदर दरवाजे की दो कोठरियो पर जो दुछत्ती थी, उसीपर खटिया डालकर दो घण्टे का विश्राम करते थे। यह दुछत्ती कोई पॉच फुट लबी और चार फुट चौडी थी और ऑगन से छ. फुट ऊँची। इसपर चढने का कोई जीना भी नही था। एक लोहे की जजीर छत पर से लटकती थी, जिसको पकड़-कर एक पॉव दीवार मे पत्थर के आगड़े पर रखकर, दूसरा पॉव दुछत्ती की छत पर पहुँच जाता था, और इस कसरत के वाद विश्राम होता था। अजीब तरीका था यह छत पर पहुँचने का। सारी उमर इस कलाबाजी से चढने मे बिताई। कभी यह खयाल नही आया कि जीना क्यो न बना लिया जाय! ऐसे कठोर जीवन की परम्परा मे मेरा जन्म हुआ, इसलिए परिवार सम्पन्न होते हुए भी मुझे सम्पदा के भयानक रूप देखने का अवसर ही नही मिला।

अब यह चीज बदल रही है। राजस्थानियो का निवास-स्थान कलकत्ता-बम्बई बन गया, न ऊँट रहे और न रहे मच्छर या खटमल। विजली-पखा तो है ही, एयरकडीशन भी आ गया। इसलिए धन के उपद्रव से आज की सतान भाग्यशाली हो, तो ही बच सकती है।

मेरे लिए भी बचपन का जीवन उतना ही कठोर था, जितना कि अन्य राजस्थानी धनिको का होता है। बचपन मे वही अनु-भव मुझे मिला, जो राजस्थान की परम्परा थी। मुझे भी वही

गर्मी, सर्दी और ऊँट मिले। न मिले फल और न सब्जी। परदेश मे वही खटमल, वही मच्छर, वही बासा और वही पाखानो का क्लेश! जवानी आते-आते ये सब क्लेश गायब हो गए, पर जो स्वभाव एक मर्तबा बन गया, वह बन ही गया।

राजस्थानी धनिकों और मध्यम श्रेणी के लोगो के जीवन की प्रचलित कठिनाई मे कोई देखनेलायक फर्क नही था। सभी का जीवन सहूलियतो के अभाव मे आज के माप-दण्ड से कष्टप्रद था। पर किसीमे इस कष्ट का अखरना नही देखा। अनिवार्य समझकर लोग इसको कष्ट नही मानते थे।

हर मनुष्य, चाहे जाडा हो या गर्मी, शौच के लिए एक-दो मील दूर जगल ही जाता था। धनिक वर्ग ने—उस ज़माने के धनिक भी आज के मध्यम वर्ग के मुकाबले मे गरीब कहलाये जा सकते हैं—कभी यह नही सोचा कि घर मे पाखाना और स्नान-घर क्यो न बना लिया जाय! ऐसी कल्पना ही एक क्रातिकारी विचार माना जा सकता था, और यदि कोई ऐसा कर लेता, तो ग्राम का समाज अवश्य ही उसे घृणा की नजर से देखता।

हमारा परिवार भी इसी कठोर राजस्थानी जीवन की परम्परा मे अकुरित हुआ और बढा। इसलिए हमारे जीवन-स्तर मे सिवा इसके कि हमारा मकान (हवेली) ठीक था, दो ऊँट थे, दो गायें थी, कपडा कुछ औरो से अच्छा था, औरो के मुकाबले मे और कोई भिन्नता नही थी और न विभिन्नता की ख्वाहिश ही थी।

पर और परिवारो से हमारे परिवार मे कुछ विशेषता थी, और वह थी धर्म [illegible] था। [illegible] ह और पिता, दोनों [illegible] कठिन जीवन [illegible] [illegible] उदारवृत्ति से भी थे

और धर्म मे उनकी श्रद्धा थी। इसलिए मुझे भी उनकी ही राह का अनुसरण करना पड़ा।

बचपन से ही सुबह पॉच बजे उठ जाने की मेरी आदत डाल दी गई। सवेरे उठकर, निवृत्त होकर, दातून और स्नान से निवट-कर, जो पहला काम करने के लिए पिताजी मुझे बाध्य करते थे, वह थी नित्य की पूजा। यह अनिवार्य थी। नौ साल का हुआ तब तो मुझे एक चन्दन का वोटा, चकला, ताम्री, पच-पात्र, विष्णु-सहस्र-नाम का गुटका, आसन और पूजा की सामग्री का एक झोला सौप दिया गया था। सुबह सात बजे कि आसन पर बैठ गए, पिता और पितामह के साथ। पहले चन्दन-केशर साथ मे घिसकर तिलक लगाओ और उसके बाद विष्णुसहस्र-नाम का पूरा पाठ करो।

पाठ की यह हालत थी कि न तो मेरे पिताजी को शुद्ध पाठ आता था, न आता था मुझे। पर सामने जो गुटका था, उसपर से अट-सट जो बन पडता, तेज रफ्तार के साथ मै पाठ करता ही जाता था। वह सारा-का-सारा अशुद्ध पाठ मुझे कण्ठाग्र हो गया। इन अशुद्धियो का पता तो तब लगा, जबकि मै सस्कृत मे थोडी गटर-पटर करने लगा, और जब पता लगा, तब तो मेरा पाठ का अभ्यास भी छूट गया था।

और भी कई यम-नियम पिताजी से मिले। ग्रहण मे कभी खटिया पर नही पडे रहना, और ग्रहण शुद्ध न हो तबतक भोजन न करना। ग्रहण मे छाया-पात्र का दान भी देना पडता था। श्रावण मे सोमवार का उपवास करके, शिव-पूजन करके, फला-हार करना पडता था। इस शिव-पूजन और फलाहार मे मुझे काफ़ी मजा आता था। पर जाडे के दिनो मे, ग्रहण की वेला मे,

रात को खटिया से उतरना बहुत ही अखरता था। कभी बीमार हो गया तो पिता महामृत्युंजय का जाप करवा देते थे और उसका सकल्प देना पडता था। बुखार हो तो भी समय की सधि मे खटिया पर नही लेटना, यह भी एक कडा नियम था, जो काफी अखरता था। ज्यादा बीमार हो गए तो सुन्दरकाण्ड का पाठ और फिर अधिकाई करनी हो तो शतचण्डी। मैं नही कह सकता कि मेरी इन सभी चीजो मे श्रद्धा थी। दुर्गासप्तशती का नित्य पाठ मैंने वर्षो किया, पर जब श्रद्धा हट गई तो छोड दिया।

पर ईश्वर मे मेरी श्रद्धा रही, जो बढती ही गई। प्रार्थना मे कुछ श्रद्धा रही, पर ज्यादा श्रद्धा काम मे रही। हाथ काम, मुख राम, हिरदे साँची प्रीत—यह सूत्र कुछ ज्यादा जँचा।

जो हो, श्रद्धा रही या नही, पर जो अभ्यास करवाया गया, वह एक स्वभाव बन गया। एक तरफ राजस्थान का कठोर जीवन और साथ मे ये माता-पिता के दिये यम-नियम, इन्होंने मेरी काफी भलाई की।

पच्चीस साल का होते-होते तो राजस्थान और राजस्थानी कष्टो से मेरा सम्पूर्ण नाता टूट गया। कलकत्ता-वास ने सुख-सामग्रियो का जो अभाव अबतक था, वह सारा मिटा दिया। पर इतने दिनो के अभ्यास के बाद इन सुख-सामग्रियो मे कोई विशेष आकर्षण भी नही रहा।

अजीब बात है कि मनुष्य का स्वभाव कैसे बनता है। मेरा ख़याल है कि मनुष्य भी एक तरह का वृक्ष है और कई पहलुओं से मनुष्य और वृक्ष मे कोई फ़र्क़ नहीं है। राजस्थान से अच्छे बाजरे का बीज मँगाकर बंगाल की भूमि मे बो दीजिये। एक साल के बाद राजस्थानी बाजरा बगाली बन जायगा और

उसका जागडापन भाग जायगा। कलकत्ते से गुलाब लेजाकर राजस्थान मे लगाँओ, तो वह बेहद रगीला बन जायगा। वम्बई का हापुस आम का पेड बगाल मे नहीं पनपता। प्राय वृक्ष स्थानीय मौसम के आदी होकर अपने-आप उसी मौसम के अनुकूल, अच्छे या बुरे, बन जाते है। वैसे ही मनुष्य भी वातावरण का गुलाम है। मैने जो बचपन मे देखा, सुना, जैसी दिनचर्या रही, जैसा समाज का वातारण रहा, जैसे साँचे मे मै ढल गया, उसपर फिर अमरीका या यूरोप की हवा का कोई असर नही हुआ।

राजस्थानी जीवन का यह अनुपम आशीर्वाद जो मुझे मिला, मेरे बाद की पीढीवालो को दुर्लभ होगा, पर उन्हे अन्य कई आशीर्वाद मिलेगे, जो मुझे नसीब नही हुए।

मेरे बचपन मे पिलानी तीन हजार आदमियो की बस्ती का एक छोटा-सा गाँव था। अब तो बस्ती करीब पन्द्रह हजार की होगी और हरियाली भी बढ गई है। पर उस जमाने मे अन्य राजस्थानी स्थानो की तरह पिलानी के इर्द-गिर्द भी बालू के टीलो की भरमार थी और वृक्षो का अत्यन्त अभाव था, क्योकि जलाने के लिए लोग लकडी खेतो मे से काट ले जाते थे, इसलिए वृक्ष वढने नही पाते थे। जमीन की वहुतायत थी और जोतनेवाले कम थे। साग-सब्जी तो वर्षा ऋतु मे ही थोडी-सी होती थी, अन्य फलो का नाम तो केवल कोश तक सीमित था। पीचू और पील या तो काकडी, मतीरे मौसम मे मिलते थे, जिन्हे हम आज फलो की सूची मे शुमार भी नही करते।

हमारे ग्राम मे एक वडा बट का वृक्ष था, जिसकी परिधि शायद एक फर्लांग होगी। ऊँचाई भी सभवत १५० फुट रही होगी। कई एक विरले नौजवान थे, जो बट के आरपार पत्थर

फेंक सकते थे। वट की जटाओ ने ऊपर से उतर-उतरकर, जमीन मे धँसकर, वट को एक प्राचीन ऋषि-मुनि के जैसा रूप दे दिया था। इसलिए पचासो कोस तक पिलानी 'वटवाली पिलानी' कहलाती थी।

इसकी तीन हजार जनसंख्या क्या थी, यह एक तरह का परिवार था। सबको एक-दूसरे के जीवन के हर पहलू का ज्ञान था। जीवन एक तरह के प्रशान्त तालाब को तरह था, जिसमे लहरे कभी-कभी और वह भी एक-आध ही उठती थीं। एक तो तब, जब किसीकी मृत्यु होती थी। पिलानी में वह एक असाधारण घटना मानी जाती थी। विवाह भी विशेष घटनाओ में से था और जब लडकी ससुराल जाती थी, वह भी एक अवसर माना जाता था।

लड़की की विदाई बडी रोचक थी। वह विदाई प्राय प्रात काल होती थी और उस समय का रिवाज था कि लडकी जबतक ऊँट पर चढकर गाँव के बाहर एक-आध फलाँग न पहुँच जाय, तबतक ज़ोर-ज़ोर से कूका-कूक करती ही जाती थी। क्रम यह था कि जब लड़की घर से निकलती तो चारों ओर परिवार की औरतो के झुरमुट से घिरी-घिरी धीरे-धीरे चलती। उस जुलूस के आगे-आगे ऊँट की नकेल पकडकर लणिहार, अर्थात् लड़की लिवा लेने के लिए आनेवाला, चलता था। जबसे लड़की घर से चलती, तभी से उसका क्रदन शुरू होता था, और देवियों का झुरमुट विदा का गान छेड़ देता था। इस तरह धीरे-धीरे यह जुलूस घर से चलकर गाँव के बाहर तक पहुँचता था। खूबी यह थी कि कूका-कूक और देवियों के विदाई-गीत एक ही स्वर में चलते थे। गाँव के बाहर आकर संगीत तो बन्द हो जाता

था, पर कूका-कूक की आवाज और भी बुलद बन जाती थी। सब औरते एक-एक करके लडकी से मिलती थी। उसे सात्वना और आश्वासन देती थी, हालाकि इसकी कोई जरूरत नही थी, क्योकि मेरा खयाल है, और शायद सभी का यह खयाल था कि लडकी का रोना बिल्कुल रस्मी था और सात्वना देना भी एक नेगचार था।

जो हो, गाव के लोग यदि इन रस्मो से मन-बहलाव जुटा लेते थे, तो उतनी ही कारीगरी के साथ अन्य क्षेत्रो से भी मनोरजन खीचकर जीवन को रसमय बनाये रखने की फिराक मे रहते थे। सौ-पचास वर्ष पहले का हिन्दुस्तान फुरसत मे इतना दबा था—और आज भी बेकारी कुछ ही कम है—कि जीवन को नीरसता से बचाने के लिए लोगो को हर क्षेत्र से विनोद और मनोरजन खीचना पडता था, और उसके लिए बेखर्चीले और स्थानीय साधन ही जुटाने पडते थे। खर्चीले मनोरजन के साधन ऐसा समाज बर्दाश्त भी कैसे करे!

इस प्रयत्न मे एक लाभ तो यह होता था कि हर मनुष्य के व्यक्तित्व को व्यक्त होने का अच्छा मौका मिलता था। एक नई तरह की निर्माण-वृत्ति भी जागृत होती थी, हालाकि यह वृत्ति उस समाज की आर्थिक समस्या पर कोई खास असर नही डाल सकी, पर आर्थिक क्षेत्र मे प्रगति उन दिनो दुर्लभ थी। जबतक नये प्रकार के कल-पुर्जो के साधन उपलब्ध न हो, ऐसा पिछडा हुआ दीन समाज करे भी क्या!

आज तो प्लानिग बन रहा है, विदेश से सहायता के लिए धन आ रहा है, राजनैतिक स्वतत्रता है और विद्या-उपार्जन जोरो से हो रहा है। पर ये सब चीजे सौ-पचास वर्ष पहले कहाँ उप-

लब्ध थी ? इसलिए उपजाऊ दिमाग की दौड ऐसे क्षेत्र मे सीमित रहती थी कि जिसमे कुछ विनोद भी हो, कुछ सेवा भी हो और मन कुठित न हो। इसके फलस्वरूप लोगो में आत्मीयता थी, एकता थी, परस्पर-सहायता की भावना थी और हर चीज का मूल्याँकन केवल स्वार्थ या पैसे के मापदण्ड से नही किया जाता था। आज तो वह समाज गोल्डस्मिथ के 'वीरान गाँव' की तरह उजड गया। अनेक अच्छी बाते आई है और अनेक अच्छी बाते गई है; पर उस पिछडी हुई सभ्यता मे रहनेवाले समाज का चित्र आज गायब है।

दबा हुआ समाज उदासी से बचने के लिए आमतौर से अतिशयोक्ति की शरण लेता है। इस कूका-कूक और विदाई-गीत की रस्म मे भी वह अतिशयोक्ति ओतप्रोत थी। लड़की का रोना तो गाँव के बाहर जाते ही ऐसा गायब हो जाता था, जैसे बिजली की चमक अचानक आकर अचानक चली जाती है। और विदाई-गीत की अतिशयोक्ति भी आज के लोगो को अद्भुत लगेगी।

**ओजी ओ गोरीरा लश्करिया—ओलंगड़ी लगाये र काठे चाल्याजी।**—हे गोरी के लश्कर, प्रीति लगाकर कहाँ जा रहे हो ? अब यह लश्कर तो एक-आध मुर्दा ऊँट तक सीमित था, जिसपर चढकर लडकी ससुराल जाती थी। और यह प्रीति लगाकर जाने के उलहने मे यदि कोई असलियत होती, तो लडकी और उसके वर के जाते ही वह महिलाओं की सारी टोली बेहोश होकर गिर जाती। पर ऐसा कभी नही हुआ। इतना बढाव-चढाव और अतिशयोक्ति इसी बात की छाया है कि उस समय का समाज अपनी उदासी को भूलने के लिए तरह-तरह के आत्माभिमान-पोषक वाक्यो की शरण लेता था।

गत पाँच-सात सौ वर्ष की कविताओ से भी यही निष्कर्ष निकलता है। साँसारिक साधनो की काफी भर्त्सना इन कविताओ मे की गई है, क्योकि ये सब साधन समाज को उपलब्ध भी नही थे। इसलिए उनकी निन्दा करके ही सतोष माना।

मीराँ के पद गानेवाले चाहे मीराँ की भक्ति की और वैराग्य की लाख तारीफे करे, पर कोई घर-गृहस्थीवाला आज यह नही चाहेगा कि उसकी बहू-बेटी घर छोडकर 'सतन ढिग बैठि-बैठि लोकलाज खो दे।' धन की निदा भजनो मे लोग बडे चाव से गाते है, पर धन के पीछे दौड जारी है। बात यह थी, जब सामग्रियाँ उपलब्ध नही थी, तब उनकी भर्त्सना हुई, जैसे लोमडी के खट्टे बेर। इसका अच्छा पहलू भी था, जो आज गायब होता जा रहा है। वह अच्छा पहलू व्यक्तियो के चरित्र के विश्लेषण से हमारे खयाल मे आ सकता है। ऐसे व्यक्तियो की पिलानी मे कमी नही थी।

गाँव के उन प्रमुख व्यक्तियो मे प्रथम स्थान देना चाहिए स्यामी चरणदासजी को। 'स्यामीजी' इसी नाम से गाँव के लोग उन्हे पुकारते थे। वह एक मदिर के महन्त थे। पर इतने ही से उनका हुलिया पूरा नही बैठता। स्यामीजी कुछ वैद्य भी थे, कुछ पडित भी थे। श्रावण मे कथा बाँचते थे। एकादशी को मदिर मे जागरण होता था, जबकि रातभर भजन गाये जाते थे। होली, जलझूलनी, अन्न-कूट को ठाकुरजी की विशेप पूजा होती। इसके अलावा स्यामीजी गायक भी थे। पर पाठक इस सारी गुणावली से चौधिया न जाँय, इसलिए कुछ सफाई करना आवश्यक है। स्यामीजी का आयुर्वेद का ज्ञान दस-बारह औपधियो तक था। मेरा खयाल है कि उस जमाने की आवश्यकतानुसार ये दस-बारह

औषधियाँ काफी थी। स्वामीजी को नाडी का ज्ञान भी था। पर नाड़ी तीतर की चाल चलती है या मयूर की, इसकी परख उन्हें थी, ऐसा उनका दावा था। सस्कृत का ज्ञान उनका अत्यन्त स्वल्प था, पर कथा-भागवत भी पढ लेते थे। कैसे पढ लेते थे, यह एक रहस्य था, जिसका उद्घाटन अभी तक नही हुआ। उन्हें सारंगी बजानी आती थी, पर स्वर कुछ उल्टे-पुल्टे गिरते थे। रागो का ज्ञान काफी था, पर उनका गला कफ से इतना अवरुद्ध रहता कि स्वर कही-के-कही लग जाते थे। पर स्वामीजी बेमिसाल सेवक थे, इसमें अपवाद नही। रोज सुबह मदिर से निकलकर गाँव का पूरा चक्कर देते थे। रोगी को देखकर दवा देते थे और कभी किसीसे न कुछ माँगा, न कोई आकाक्षा की।

स्वामीजी की दाढी लम्बी थी और वह उसे बल देकर कान के चारों ओर रस्सी की तरह आँटा लगा लेते थे। उनका कहना था कि पूरे चार आँटे कान के इर्द-गिर्द उनकी दाढी के आते है, यद्यपि किसीने मापा हो, ऐसा मुझे पता नही।

मैंने स्वामीजी की अनेक राग-रागिनियाँ सुनी और उनसे सीखी भी। कोई बाहर का गायक आता तो स्वामीजी उसे मुफ्त भोजन देते। स्वामीजी मे मजाक कूट-कूटकर भरा था। निर्लोभी सेवक और हँसोड़े बेमिसाल थे। रात को १२ बजे भी किसी रोगी ने बुलाया तो स्वामीजी चले जाते थे। दवा घर की देते थे और बिना मूल्य। कथा-वार्ता में कुछ विशेष चढावा नही आता था, पर खानेभर का अन्न आ जाता था।

मंदिर में उन्हींके साथ उनकी बहन रहती थी। उसका नाम सही था। उसे इस बात का बड़ा सताप था कि लोग स्वामीजी को कुछ देते-लेते नही। हम लोग मंदिर जाकर और ज़ोर से कहते,

"सद्दी दादी, राम राम," तो कुछ खुश होती, आशा करती कि कुछ पैसा मिलेगा। पर थोडी दूर जाकर जब हम चिल्लाते, "सद्दी दादी, रॉड रॉड" तो लाठी उठाकर मारने दौडती, पर किसीको चोट नही आई।

स्यामाजी जब सत्तर के लगभग होकर मरे, तो मदिर उजड गया। लोगो ने शोक मनाया। न कथा रही, न रहा सगीत और न जडी-बूटी। ऐसे बेमिसाल सेवक आज दुर्लभ है।

हमारे गॉव मे एक था कनीराम तोला। वह भी बेमिसाल सेवक था। सारे गॉव की पचायत करता और सदाव्रत (यह बाबा काली कमलीवाले ने मुष्टि-अन्न की बुनियाद पर आरम्भ करवाया था, जो आज भी जारी है) का हिसाब रखता। लोगो से मुष्टि-अन्न घर-घर से एकत्र करता और गरीबो को वितरण करता, पूरा हिसाब—वही-खाता रखता, पर एक कौडी तनख्वाह न लेता। सम्पर्क उसका इतना अधिक था कि गॉव के एक-एक बच्चे का नाम तक जानता था। अमरकोश कण्ठाग्रवाले मिले है, पर तीन हजार आदमियो का पूरा हुलिया रखनेवाला तो कोई ही होता है। कनीराम मे वह माद्दा था।

कनीराम करीब सत्तर साल की आयु पाकर मरा, पर जबतक साठ का न हुआ, कभी रेल भी न देखी, और जब देखी तब अत्यन्त उत्तेजित होकर बैठने से इन्कार किया। कनीराम चाहे आधुनिक चीजो में पिछडा हुआ था, सेवा मे सबसे अग्रसर था।

हमारे यहाँ एक सरूपा खाती था। कारीगर था, पर कल्पना के घोडे दौडाता था। उसका खयाल था कि अगर उसे सहायता मिले तो वह रेल के इजिन भी बना सकता है। छोटी-

मोटी बाहर से आई चीजो की उसने हू-ब-हू नकल करके वैसी ही बना दीं, पर रेल का इंजिन उसके वित्ते के बाहर की चीज है, यह उसने नही माना।

एक पहलवान कमरदी इलाही था, जो रोज एक हजार दंड पेलता था। खूब दूध पीता था और अच्छे पहलवानों मे था। दूसरा गीगलिया एक नायक जात का जवान था, जो ऊँट लादकर पेट पालता था। किसीने मजाक में गीगलिया से कहा, 'कमरदी से कुश्ती लड़ोगे ?' गीगलिया ने 'हाँ' भर ली। गीगलिया ने न कभी कुश्ती लड़ी थी, न उसे दांव-पेच आते थे। अखाडा खोदा गया और गॉव के सारे लोग एकत्र हो गए। कमरदी ने लंगोट खींचकर कच्छा चढाया, उस्ताद की वंदना की और अखाडे को नमस्कार करके ताल ठोकी। गीगलिया के पास न लंगोट था, न कच्छा और न कोई उसका उस्ताद था। उसने महज धोती के पाँयचे कसकर अखाडे मे प्रवेश किया। कुश्ती शुरू हुई। कमरदी ने पैंतरे बदले, पर पहली ही झपट मे गीगलिया ने कमरदी को सिर पर उठा लिया और लोगो से पूछा, इसे कहाँ पटकूँ ? लोग हँसी के मारे लोटपोट हो गए। कमरदी ने फिर कभी कुश्ती का नाम न लिया। सुना था, गीगलिया अपने कंधे पर ऊँट को उठा लेता था। गीगलिया बन्दूक रखता था और अचूक निशानेबाज माना जाता था। एक रोज निशाना मार रहा था, तब बन्दूक से गोली छूटकर निशाने से बीस गज बायें खड़ी उसकी माँ के पैरो मे लगी। माँ गिर गई, मरी नही। गीगलिया ने कहा, 'अरे तेरी, माँ रांड दिल्लगी करते ही लोट गई !' यह कहानी वर्षों तक गाँव में प्रचलित रही, जिसे लोगो ने पचासों बार दोहराया और दोहरा-दोहराकर अपने दिल को

वहलाया। आज के गूढ मजाकियो को ये सब बाते कटाले से भरी लगेगी, पर ऐसे-ऐसे मनोरजनो से ही जनता उस नीरस समय मे रस डालकर काल-यापन करती थी।

हमारे यहाँ एक डाकिन थी। उसका नाम था वर्जली। वर्जली की वतौर डाकिन काफी शोहरत फैल गई थी। यहाँ-तक कि वच्चो के माँ-बाप उससे इतने डरते थे कि बच्चो को उसके सामने नही आने देते थे। कभी जब वह हमारे पास मे आती तो हमे छिपा लिया जाता था; क्योकि उसकी आँख पडने पर काफी अशुभ की आशका थी। यदि कोई वच्चा वीमार पड गया और शक बर्जली पर गया तो या तो उसकी मिन्नत करके या उसे ठोक-पीटकर जवरन उससे वच्चे पर थुकवाया जाता था। इसके माने यह थे कि वर्जली ने बच्चे पर यदि थूक दिया तो फिर उसने जो जादू वच्चे पर चलाया था, वह वापस आ-जाता था।

मैने वर्जली को छिप-छापकर देखा था। सूरत-शकल से वह एक साधारण कुरूप वुढिया लगती थी, पर उसकी शोहरत के कारण उसको कुछ आमद भी हो जाती थी। इसलिए वर्जली ने कभी डाकिन होने से इन्कार नही किया, वल्कि लोगो के इस विश्वास को उसने प्रोत्साहन ही दिया।

सुना था रात को बर्जली जरख (लकडवग्घा) पर चढकर कुएँ की गूण पर ऊपर-नीचे सवारी पर उतरती-चढती रहती थी। पता नही, हमारे प्रात मे ऊँट, घोडे, बैल होते हुए भी वर्जली को जरख की सवारी क्यो पसन्द थी। पर यह अपने-अपने मुल्क का रिवाज और अपना-अपना शौक समझिये, क्योकि यूरोपियन डाइन को झाडू पर चढने का शौक है। खैर, यूरोपियन डाइन की सारी करतूतो का तो मुझे पता नही, पर वर्जली का

शौक था कि जो बच्चा उसके जादू से मर गया, उसे रात को गड्ढे से उखाड़कर वह जिन्दा कर देती थी और फिर बच्चे को खिलाती रहती थी। सुबह की वेला फिर उसे मारकर उसी गड्ढे मे गाड देती थी। यह बर्जली डाकिन का शौक कुछ अजीब था, जिसके माने समझना आज की नवीन सन्तान के लिए मुश्किल है। पर उस जमाने के लोगो के लिए इसे समझना मामूली बात थी।

बर्जली बच्चे को जिन्दा करने से पहले बच्चे के कलेजे को निकालकर खा जाती थी। कलेजे के क्या माने होते हैं, यह अनेटोमी के ज्ञान के अभाव मे किसीको पता नहीं था। पर सभी ऐसा मानते थे कि बच्चे का कलेजा डाकिन निकाल लेती है।

हमारे यहाँ एक ब्राह्मण लडका था, जो डाकिन के जादू से मर गया था। उसके परिवारवालों को पता था कि वह बच्चा डाकिन के जादू से मरा है। इसलिए जिस दिन बच्चे को गाडा गया था, उसी रात को बच्चे के परिवार के दस-पाँच आदमी जगल में जा छिपे। अब बर्जली रात को जहाँ बच्चा गाड़ा गया था, पहुँची। बच्चे को निकाला और जिन्दा करके ज्योंही उसे खिलाना शुरू किया कि इन लोगों ने पीछे से बर्जली का चोटा पकड़कर उल्टे सिर धर दबोचा और बच्चे को छीनकर ले भागे। उसकी करामात यह थी कि अगर बच्चे को इस छीना-झपटी के समय फिर बर्जली देख पाती तो बच्चा जिन्दा नहीं रहता था। इस मरे हुए बच्चे को बर्जली की गोद मे से किस तरह बचाया, यह किस्सा गाँव के लोग बड़े चाव से पच्चीसों साल के बाद भी श्रद्धा से सुनते और चाव से कहते। किसीने इस बात का विरोध नहीं किया, न किसीने इसकी सचाई में शंका की; बल्कि बच्चे के माँ-बाप सौगन्द खाकर भी इस कथा की सत्यता स्वीकार करते थे। अजीब

जमाना था वह डाकिनों और भूतो का !

इस जमाने मे तो डाकिनो की फैशन उठ गई और न रहे भूत-भूतनियाँ, पर मेरे बचपन मे भूत-भूतनियो की कोई कमी नही थी। बीसो आदमियो ने उन्हे देखा और उनसे बाते की, हालाँकि लाख कोशिश करने पर भी मै भूत-देवता के दर्शन नही कर पाया। कम-से-कम इस जमाने के लोगो का सबसे बडा नुकसान यह हुआ कि उनके लिए अब भूत देखने का कोई मौका ही नही रह गया।

हमारे पूर्वजो मे भी एक 'पित्तर' हो गए है। यह ध्यान देने की बान है कि पित्तर और भूत अलग-अलग है। भूत नालायक, कमीने होते है, लोगो का नुकसान करते है और पित्तर भले होते है। हमारे परिवार की परम्परा ने भी कुछ सहारा लगाया होगा कि हमारे पूर्वजो मे पित्तर हुए। यह पित्तर रात को सफेद कपडे पहनकर और कभी-कभी सफेद घोडे पर चढकर निकलते थे और हर पहलू से हमारी रक्षा मे तैनात रहते थे। मेरी माँ को इनका बड़ा भरोसा था। एक मरतबा शाम को मै देरी तक गलियो मे खेलता रहा और जब वापस लौटा तो पिताजी को क्रुद्ध देखकर वापस भागकर किसी एक फूटे मकान मे जाकर छिप गया। अब शुरू हुई दौड़-धूप मुझे खोजने की। लोग चिल्लाते और पुकारते उस टूटे मकान के पास से निकल जाते थे, पर किसीने भीतर घुसकर नही देखा कि मै मजे मे खडा सबको देख रहा हूँ।

खैर, लोगो की इस परेशानी को देखकर, न मालूम क्यो, मुझे बड़े जोर से हँसी आई और मै बाहर निकल पडा। मुझे हाथोहाथ गोदी मे चढाकर मेरी माँ के पास पहुँचाया गया और, पता नही क्यो, वजाय पीटने के मेरा काफी दुलार हुआ।

पीछे से मैंने सुना कि मुझे किसी कारण पित्तर ने छिपा लिया था। लोगो ने विना किसी झिझक के मेरी माँ को वताया कि उन्होने एक सफेद कपडेवाले मनुष्य को उस फूटे मकान के पास देखा था। फिर तो उन पित्तर को प्रसन्न करने के लिए खीर वनी, जो मैंने भी वडे चाव से खाई।

अफसोस है कि भूतो और पित्तरो का यह समाज आज गायव हो गया, रूठ गया या वेकार हो गया। जो हो, ये सब वाकये गाँव के लोगो को व्यस्त रखने के लिए काफी मसाला दे देते थे।

हमारे यहाँ कहावत थी .

सीयाळे खाटू भलो
ऊनाळे अजमेर;
नागाणो नित को भलो
सावण वीकानेर।

उन दिनो, जवकि लोगो का अन्य प्रदेशो का ज्ञान परिमित था, मुमकिन है, ऊपर का यह ख्याल ठीक हो। तीन सौ साल पहले तो अजमेर के आसपास के प्रदेशो मे काफी वडे जगल थे और आवू भी पास मे ही था। इसलिए गर्मी की लू से बचने के लिए 'उनाळे अजमेर' ठीक हो सकता है। पर श्रावण की सारे राजस्थान मे भी विशेषता रही है और पिलानी भी इस विशेषता से बरी नही था।

आज तो तुलना कुछ बारीकी से होने लगी है, इसलिए श्रावण मे जब तापमान ९५ से ऊपर रहता है, उमस बहुत ज्यादा रहती है, कीडे-मकोड़ो और मच्छरो का जोर रहता है तो हवा-पानी और मौसम की दृष्टि से पिलानी मे या राजस्थान मे आन-

र्षण कम रह गया है। पर हमे उन लोगो की नजर से देखना चाहिए, जो लू खाते-खाते तग आगए थे और पपीहे की तरह वर्षा की उडीक करते थे।

वर्षा के राजस्थान मे अनेक आकर्षण है। प्रचण्ड गर्मी के बाद बादलो की काली और रुपहरी शक्ल के साथ उतार-चढाव, बूँदो की रिमझिम, बिजली की कडक, मोरो का मेह की गरज पर नाच, किसानो का हल ले-लेकर निकलना, खेतो मे फिर आठ महीने के बाद चहल-पहल—ये सब बाते राजस्थानी के लिए कुछ अनोखी है। वर्षा जब आती थी, बच्चे नालियो के पानी मे और गलियो की नालियो मे भी क्रीड़ा करने उलट पडते थे। सारे साल का अन्न एक ही ऋतु मे पैदा होता है, यदि अकाल न पडा तो। इसलिए भी वर्षा ऋतु का महत्त्व राजस्थान मे अन्य प्रदेशो से कही काफी अधिक है।

हमारे यहाँ भी एक पचास बीघे का खेत था, जिसे किराये के हलो से हम लोग जुतवाते थे। बाजरी तो प्रधान फसल है। उसे बोते ही थे। पर बाजरी के साथ गँवार (गौ-अहार), मूँग, मोठ, चौला, काकडी, मतीरे के बीज भी बोये जाते थे। और इन सब चीजो के अकुरित होने से लगाकर फसल कटने तक हम लोग हर दिन की प्रगति से अपने-आपको ब्यौरेवार वाकिफ रखते थे। जब बाजरे के सिट्टे लगते थे, उस समय तक काकडी और मतीरे भी तैयार होने आ जाते थे। तब मित्रो के साथ खेतो मे एक तरह की पिकनिक होती थी, जिसमे उत्साह, आनन्द और उत्तेजना का कोई ठिकाना नही रहता था। शाम को घर आते तब ऊँट पर गँवार-फली, बाजरे के सिट्टे और मतीरे लादकर घर ले आते थे। अब तो इन चीजो का रस राजस्थानियो के दिल

से भी निकल गया, पर उस पुरानी पृष्ठभूमि पर ये सब चीजें दुर्लभ थी, जिन्हे प्राप्त करने की लालसा बनी ही रहती थी।

पर यह चित्र तो हुआ वर्षा होने पर फसल अच्छी हो उसका; इसके विपरीत जब अकाल पडता था तो सब मुर्झा जाते थे। मेरी याद मे और शायद सारे हिन्दुस्तान में १९५६ संवत्-जैसा अकाल नहीं पड़ा। इससे पहले सुना था कि सवत् १९०० और १९०१ मे लगातार दो अकाल पडे थे। इनका नाम लोगो ने 'सैया' और 'भैया' रखा। ये अकाल, कहते है, इतने भयंकर थे कि १९०१ मे किसी घर मे चक्की की आवाज सुनकर १९०१ का दुर्भिक्ष 'भैया' १९०० के दुर्भिक्ष 'सैया' से कहता था—

**चाकी चालै रै सैया, माणस बोलै रै भैया !**

इसके बाद भी एक-आध भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा। पर छप्पनिये अकाल ने सब अकालो को नीचा दिखाया। इसकी भयंकरता भय को भी डरानेवाली थी। छप्पन में यों कहना चाहिए कि बरसात हुई ही नही। आषाढ गया, श्रावण गया, जब भादो गया तब तो लोगो के छक्के छूट गए। कुछ हिस्सो में, जहाँ पानी खारा है, वहाँ तो कुण्डों का भी पानी सूख गया। सारा बागड, जो राजस्थान का पश्चिमी हिस्सा है, भादो मे डुल पडा और अन्य प्रदेशों मे जाने लगा। पर जाना भी आसान नही था। जिन पशुओ के बल पर गाड़ो मे सामान लादकर बालद चली थी, वे पशु एक-एक करके मरने लगे। उनके बाद नम्बर आया मनुष्यों का। भूख के मारे लोग बच्चे बेचने लगे, पर लेनेवाला कहाँ! लोगो की कमर में रुपये बँधे पड़े रहे और भूख के मारे मरते गए।

मैंने अपनी आखो बीसों मुर्दे हमारे गांव के आसपास मरते देखे और सैकड़ो झोपड़ियां बिखरी हुई देखी। लोग समझ न पाये

कि क्या हो रहा है। यातायात की उन दिनो कमी थी। रेल तो थी नही, ऊँट-बैल चारे के अभाव मे मर गए। अन्न करीब ६ रुपया मन मिलता था, पर पहुँच नही पाता था।

मेरे पिताजी ने इन लोगो को काम देने के मतलब से कई जगह कच्चे तालाव और कुओ की मरम्मत करवानी शुरू की, पर कोई दवा सफल नही हुई। लाखो आदमी राजस्थान मे मरे। लोगो के देखते-देखते यह एक अनहोनी घटना थी। इतनी भूख पर भी कोई लूट-खसोट या डाका नही पडा। लोग चुपचाप ईश्वर की शरण मे जाते थे। किसी-किसी घर मे तो मुर्दा जलाने-वाला भी नही बचा।

इस दुर्भिक्ष के समय पिलानी मे जो कोई डुलकर आया, उसे सदाव्रत की तरफ से कनीराम तोला एक मुट्ठी अन्न दे देता था और हमारे परिवार की तरफ से भी कुछ-न-कुछ प्रबन्ध था। उत्तरप्रदेश से अच्छी तादाद मे किसारी और मटर आयात कर ली गई थी और हर भूखे को एक-एक मुट्ठी दोनो अन्नो की बॉट देते थे। खानेवालो को पकाने तक की फुर्सत नही थी। इसलिए मटर और किसारी को कच्चा ही फॉक जाते थे।

क्षुधा की पीड़ा का यह रोमाचकारी दृश्य मैने बचपन मे ही देखा। मै उस समय केवल पॉच साल का था, पर मेरे चारो ओर क्या हो रहा है, इसका-मुझे अच्छी तरह भान था। भूखे लोगो का त्रास और जगह-जगह मुर्दे और खोपडियो का टलना, यह भयानक दृश्य था, जिसने मेरे हृदय पर काफी चोट की। कुछ गरीब लडके मेरे साथी थे। उन्हे मैं अपने यहॉ से कुछ और भी अन्न दे देता था। उन साथियो मे एक-आध आज जिन्दा है और हमारे यहॉ कुछ कार्य भी करते है।

पर छप्पन जितना भयकर दुर्भिक्ष था, सत्तावन वैसा ही चिरस्मरणीय सुकाल हुआ। छप्पन में पशु राव मर गए थे और इसलिए खेती कैसे जोतेगे, यह भी एक समस्या थी। सत्तावन मे आपाढ मे ही वादल छाने लगे, पर वर्षा नही हुई। लोगो की चिन्ता बढ़ी। लोगों ने सतृष्ण आँखो से वादलो की ओर देखा—आशा और भय के साथ। यदि फिर अकाल पड़ा तो ? और वर्षा हुई भी तो खेती कैसे वोयेगे ? इसी उधेड-वुन मे थे कि श्रावण मे इन्द्र उमड पडा, मूसलाधार वर्षा हुई और उसके वाद चाही-चाही वर्षा हुई समय पर; न कम, न अधिक। वर्षा होते ही नर-ककाल खेतो में दौड गए और मर्द और स्त्री मिलकर पशु की तरह हल खीचने लगे। पर पूरी खेती न होने पाई। इधर भगवान् वरसा तो ऐसा वरसा कि जहाँ खेती नही जोती गई, वहाँ भी वाजरी, मूँग, मोठ उग पडी। वाजरा वढा तो ऐसा वढा कि कई-कई वूँट १५-२० फुट लम्वे गये। एक-एक वूँट में सात-सात सिट्टियाँ लगी। लोगो को फसल पकने तक का धीरज नही था। इसलिए कच्ची वाजरी मूँद-मूँदकर खाने लगे और ऐसे ही काकडी और मतीरे।

सूखी हुई हड्डियो मे जान आई और मास-चर्बी जो सूख गई थी, वह मनुष्यो के वदन पर फिर आने लगी। आसोज आते-आते तो लोग मोटे-ताजे हो गए। वाजरी इतनी सस्ती हो गई कि कोई लेनेवाला नही मिला, पर इन्द्र चुप नही रहा। माघ तक वरसता ही रहा। फसल कट गई, पर फिर अपने-आप पनप गई और सिट्टे माघ तक लगते रहे।

भगवान् की लीला अपरंपार है। छप्पन का अकाल और सत्तावन का सुकाल, ये राजस्थानी हृदयो पर एक अमिट छाप छोड़

गए हैं।

इस पृष्ठभूमि और इस वातावरण मे मैं जन्मा और पला। इसकी मुझे खुशी है। भविष्य की सन्तान को यह अवसर शायद ही मिले, क्योकि उस समय के जनमनेवालो ने काफी फेर-वदल देखा। रगमच पर कई नये पर्दे पडे और कई सिमटे। मेरे वच-पन मे भारत परतत्र था। एशिया के मुल्क भी पिछडे हुए थे। सारे आलम मे इगलिस्तान का डका वजता था। रानी विक्टोरिया के राज मे सूर्य कभी अस्त नही होता था। अग्रेजो की यश पताका शिखर पर पहुँच चुकी थी और शान के साथ फहरा रही थी। इसके वाद स्वतन्त्रता का सग्राम शुरू हुआ, वह भी मैंने देखा। अग्रेजो की ढलती आई, मेरे देखते-देखते रूस पनपा और उन्नत हुआ। भारत को आजादी मिली और अग्रेजी यूनियन जैक की जगह तिरंगा झडा चढ गया। अन्य मुल्को को भी आजादी मिली। गाधीजी के सम्पर्क मे मैं आया और अन्य नेताओ को भी नजदीक से देखा। उनसे वहुत-कुछ सीखा। उनकी सेवा करने का भी मौका मिला।

इस अनोखे समय और वातावरण मे जन्म लेना, पनपना और जिदा रहना, यह एक बडा सुअवसर मुझे मिला।

२

# मेरा शिक्षण

मेरी शिक्षा की कहानी आज के उन्नत माने जानेवाले युग मे एक अजीब-सी कथा लगेगी। जब मैं चार ही साल का था, तब सरस्वती और गणेश-पूजन के बाद, बडे समारोह के साथ, मुझे पाठशाला भेजा गया। हम लोग उस जमाने मे उस स्थान को पाठशाला तो शायद ही कहते थे। बोलचाल की भाषा मे इसे 'साल' कहा जाता था और यह साल भी एक अद्भुत जगह थी।

एक पुरानी टूटी-फूटी मडी मे एक 'गुरु' पचासेक लड़को को 'नीचे धरती और ऊपर आकाश' ऐसे एक खुले चौगान मे धरती पर, बिना किसी जाजम या दरी के बिछात के, बैठाकर पढाते थे। चूँकि ऊपर कोई छत नही थी, इसलिए धूप से बचने के लिए दीवार की आड मे क्लास लगती थी, और जब वर्षा होती, तब पाठशाला बन्द कर दी जाती थी।

पाठ्यक्रम की पुस्तको के नाम पर तो तोबा थी। शायद इस शब्द का अर्थ भी गुरु नही जानते थे। स्लेट भी सब बच्चो के पास नही होती थी। जिनके पास स्लेट नही थी, उनके पास एक पटिया होती थी, जिसपर ईंट की खोर बिछाकर लकड़ी के 'बरने' से लड़के कुछ अंक लिख लेते थे।

अंक लिखे जाते थे, अक्षर नही। अक्षर-ज्ञान राजस्थान मे उस

जमाने मे अनावश्यक समझा जाता था। शिक्षा का आरम्भ होता था 'अको' से। पट्टी-पहाडा, सवैया, डेढा, ढाँवाँ, पौना, कनकैया, जोड, बाकी, गुणाकार, भागाकार, जबानी हिसाब—बस, यहाँ तक पहुँचे कि शिक्षा समाप्त। इसके बाद अक्षर-ज्ञान कराया जाता था—वह भी बिना मात्रा के अक्षर, जिन्हे 'मोडा' कहते थे। इन मोडा अक्षरो का भी कोई निश्चित स्टैण्डर्ड नही था। जैसी जिसकी लिखावट, वैसा ही 'मोडा' अक्षर। इसका कुछ ज्ञान होने के बाद आदतन हरएक को सभी तरह के मोडा अक्षर पढने का अभ्यास हो जाता था। बस, यही उस जमाने की शिक्षा का क्रम था, जो करीब तीन-चार साल मे समाप्त हो जाता था।

कुछ गुरु ऐसे भी माने जाते थे, जिन्हे लीलावती के त्रैराशिक का ज्ञान था; पर इस ज्ञान को किसीने कसौटी पर नही कसा, क्योकि त्रैराशिक पढनेवाले शिष्य ही कहाँ थे।

मैने भी इसी क्रम का अनुसरण किया।

पर तीन-चार साल के बाद एक रोज अचानक एक नई घटना घटी। जब लडके सुबह-सुबह 'साल' पहुँचे, तो देखा कि गुरु नदारद है। बात यह हुई कि गुरु की किसी विधवा से लाग-फाँस थी, और वह रात ही को गाँव छोडकर उस विधवा के साथ ऊँट पर चढकर भाग गया। यह एक उत्तेजनाप्रद घटना थी। गाँव मे इसे लेकर बडा शोरगुल मचा। गली-गली मे इसकी चर्चा होने लगी। लडको मे भी कुतूहल जाग उठा, और कानाफूसी चलती रही। पर एक बात हुई, वह 'साल' सदा के लिए बन्द हो गई।

मेरे दादाजी और पिताजी को अब चिन्ता हुई मेरे शिक्षण की। नया प्रबन्ध क्या हो, इस उधेडबुन मे पडकर बडी खोज-

खाज के वाद एक नया गुरु वुलाया गया। इसका नाम था कानसिह। यह जाति का राजपूत था, वुड्ढा था, खूब सफ़ेद दाढी थी। इसका ज्ञान भी उतना ही माना जाता था, जितना कि प्रथम गुरु का। कानसिह ने आकर हमारे एक छोटे-से पुराने मकान मे पाठशाला खोल दी। कानसिह पॉच रुपया मासिक तनख्वाह पर नियुक्त होकर आया था। मुड्ढे पर वैठकर वह वेत के जोर से पाठशाला चलाने लगा। पचास के करीव लडके पाठशाला मे जुट गए। मैने भी इस पाठशाला मे अपनी अधूरी शिक्षा कानसिह के सहारे से 'पूरी' की। दरअसल तो हर शिक्षा अधूरी ही रहती है, पर जवानी हिसाव-किताव सीखने के वाद सात ही साल की अवस्था मे तो मै दक्ष मान लिया गया। वाहर के लोग आकर यदि पूछते कि अढाई सेर का घी, तो एक मन का क्या दाम ? तो मैं चट से सही उत्तर दे देता था। यह उस जमाने मे कोई साधारण विद्या नही मानी जाती थी।

पर अव, वदलते हुए जमाने मे, काल-धर्म के अनुसार, अग्रेजी की भी कमी महसूस होने लगी। वह कमी कानसिह से नही पूरी हो सकती थी। वह वेचारा अग्रेजी से तो कोसो दूर था। हिन्दी के अक्षर-ज्ञान से भी सरासर वेकसूर था। इसलिए अव तय यह हुआ कि कानसिह को हटाकर कोई अग्रेजी-पढा मास्टर रखा जाय। इस विचार के परिणामस्वरूप मास्टर रामविलास को वुलाया गया। यह भिवानी मे आये। हट्टे-कट्टे जवान और क्रोध की मूर्ति। तनख्वाह इनकी पच्चीस रुपये मासिक थी। रामविलास मास्टर ने स्कूल को एक नये ढॉचे में डाला और अव यह स्कूल नया रूप लेकर चलने लगा। स्कूल में घडी रखी गई और घडियाल भी, जो हर घण्टे घण्टा वजाकर गॉववालों को, कितना

बजा है, यह वताती थी। गॉववालो ने इसे एक वडी क्रान्तिकारी घटना माना।

कानसिह से तो लडके परिचित हो गए थे, क्योकि उनमे स्थानीय 'बू' पुष्कल थी। पर जव रामविलास आये तो कुछ दिन लडको को उनकी खटक रही, वाद मे उनके भी आदी हो गए। रामविलास की वेश-भूपा भी कुछ अग्रेजी ठाठ की थी, और ऊपर से क्रोध की तेजी। इसलिए उनका रौव काफी जम गया।

मास्टर रामविलास कुछ मामूली-सी ही अग्रेजी जानते थे। किसी मौलवी साहब से उन्होने उर्दू भी सीखी थी, पर हिन्दी से वे पूरे वेदाग थे। इसलिए उस उर्दू-दॉ आबोहवा मे मैने सर्वप्रथम अंग्रेजी की प्यारेचरण सरकार की 'फर्स्ट बुक ऑव रीडिग' मे प्रवेश किया। अग्रेजी के स्वर और व्यजन से ही इस पुस्तिका का आरम्भ होता था। छोटे-छोटे शव्दो के वाद इसमे छोटे-छोटे सहज वाक्यो का क्रम था। मैने धीरे-धीरे स्वर-व्यजन समाप्त करके मास्टरजी की सहायता से एक साल मे सारी पुस्तक का अन्त कर दिया और उसी अन्त के साथ-साथ नौ साल की आयु मे मेरी शिक्षा के प्रथम सोपान का भी अन्त हुआ। अग्रेजी-शव्दो का अर्थ मास्टरसाहव उर्दू मे वताते थे, इसलिए मै भी हिन्दी की आवोहवा से बिल्कुल कोरा रहा। मुझे याद है कि 'एक्स्ट्रा-ऑर्डिनरी' शव्द के माने उन्होने वताये थे, 'अजव तरह की चाला-कियॉ'! खुदा जाने, यह अर्थ उनके दिमाग मे कहॉ से आ टपका! पर मैने तो जो वताया गया, उसे ही याद किया। पीछे, जव अशुद्धि का पता चला, तव दुरुस्त किया। खैर, गलत-सलत कुछ भी मैने सीखा, पर गॉव-गली के लोग तो मेरी उतनी ही इज्जत करते थे, जितनी कि किसी 'विशारद' की हो सकती है;

क्योकि मुझे अग्रेजी मे तार लिखना-पढना आ गया था, और अग्रेजी के कुछ वाक्य भी मौके-बेमौके बक सकता था। इस गँवई 'विद्या' की प्राप्ति के पश्चात् मुझे कलकत्ते दादाजी के पास भेज दिया गया, क्योकि गॉव के सीमित वातावरण से मेरा स्तर ऊँचा हो गया था, ऐसा मान लिया गया।

कलकत्ते जब मैं पहुँचा तब नौ साल का था। कुछ अपरिचित विदेशियो ने मेरे दादाजी से कहा कि लड़के को आगे पढ़ाना चाहिए। कुछ लोगो ने यह भी कहा, लडका होशियार है। पर दादाजी के पास सबके लिए एक ही उत्तर था, "ज्यादा पढाने से लड़का बस का नही रहेगा, और अग्रेज़ी अधिक पढने से 'किस्टान' हो जायगा।" तब भी अधिक दबाव मे आकर कलकत्ते में 'विशुद्धानन्द सरस्वती विद्यालय' मे मुझे दाखिल करवा ही दिया गया। इस दाखिले के लिए आठ-दस किताबे खरीदकर दे दी गई और एक बैग भी किताबे रखने के लिए दिया गया। यह मेरे लिए अत्यन्त उलझीला अनुभव था। कहाँ मैं गाँव-गँवई का लडका और कहाँ कलकत्ते के स्कूल का यह अद्भुत वातावरण! दसियो अध्यापक, कई क्लासे, सैकड़ो लड़के, यह सब मुझे दिलचस्प तो लगा, पर भयावना भी लगा। लड़के भी कलकतिये, इसलिए गॉव के लडको मे भिन्न। अलग वेश-भूषा। भाषा भी हिन्दी-मिश्रित। इस सबको मैं पचा नहीं पाया। खैर, मैं स्कूल मे दाखिल तो हो गया, पर मन वहाँ चिपटा नही। इसलिए धीरे-धीरे स्कूल से गैरहाज़िर होने लगा।

दादाजी तो मुझसे कभी पूछते भी नहीं थे कि मैं क्या पढता था और स्कूल मुझे कैसा पसन्द आया। मेरी विद्या से उनकी विद्या तो और भी निम्न स्तर की थी। इसलिए हमारे बीच यह

एक मौन समझौता बन गया कि न तो वे मुझसे पूछते कि मै क्या पढ रहा हूँ, और न मैने ही कभी उन्हें अपनी दिनचर्या से परिचित किया ।

असलियत तो यह थी कि मै घर से अपना 'वैग' लेकर स्कूल के लिए रवाना हो जाता था, पर स्कूल न जाकर दिन-भर कलकत्ते की गलियो से ही मैत्री होती थी । दिन-भर चक्कर काटकर शाम को घर पहुँच जाता था। नतीजा यह हुआ कि मैने 'विशुद्धानन्द विद्यालय' से तो कुछ नही पाया, पर कलकत्ते की गलियो से कलकत्ते के भूगोल का काफी ज्ञान हासिल कर लिया। मेरा ख़याल है कि इस भूगोल की परीक्षा मे आज भी मै अच्छे नम्बरो से पास हो सकता हूँ ।

पर यह क्रम भी समाप्त हुआ । मेरे पिताजी मुझे बम्बई ले गए और वहाँ व्यवसाय सिखाने के साथ-साथ एक घटे के लिए एक मास्टर को तैनात कर दिया, जो अग्रेजी की गटर-पटर रटाया करता था ।

इस तरह दो साल और बीते । इस अरसे मे हिसाव-किताव, बही-खाता तो मै सीख ही गया, कुछ अग्रेजी के वातावरण से भी परिचित हो गया । तार तो लिखना आ ही गया था, अब कुछ टूटी-फूटी चिट्ठियो के क्षेत्र मे भी दु साहस करने लगा । पर मेरे इर्द-गिर्द तो ऐसे अनपढो की मडली थी कि उनके बीच मे मै पूरा विशारद था ।

इसके बाद कुछ दिन फिर पिलानी के ही स्कूल मे रहा । मास्टर रामविलास के साथ-साथ अव वहाँ मास्टर श्रीराम भी आ गए थे । हरफन-मौला और उडान के मास्टर थे वह । उडान देते ही रहते थे । कोई भी पाठ्यक्रम स्थिर नही रहता था । किसी

भी चीज़ पर उनका दिल नही अटकता था। आज हिन्दी, तो कल सस्कृत, परसो कुछ और। अग्रेजी की पुस्तको की भी अजीव अदला-वदली हर महीने चलती थी। कभी तो छोटी क्लास के लडको को 'क्लैकीज सेलफ-कल्चर' सौंपी जाती, तो कभी वापस 'इग्लिश प्रायमर' से पाठ आरम्भ होता था। 'होरा-चक्र' और 'शीघ्रवोध', जिनसे पाठ्यक्रम का कोई सम्बन्ध नही था, वह भी टपक पडता था। मास्टर श्रीराम 'लघुकौमुदी' और 'अमरकोश' को भी लडको पर लादने की कोशिश मे थे, पर नाकामयाव हुए। ये सारे प्रयोग होते थे नौ-दस साल की उम्र के लडको पर !

इस निरन्तर अदला-वदली के कारण कम-से-कम मेरी कई पुस्तकों और कई नये विपयो से पहचान वढी। खैर, पर इन्हे हिन्दी ठीक-ठीक आती थी। उर्दू, अग्रेजी से भी ठीक-ठीक ठोकर खाई थी। इसका कुछ अच्छा असर भी पडा, क्योंकि इनके जरिये मैने हिन्दी में प्रवेश कर लिया और ठोकरे खाते-खाते एक साल के वाद लोअर प्रायमरी की परीक्षा को पास कर ही तो लिया। यह परीक्षा क्या थी, इसका मापदंड वताना आज कठिन है; पर शायद आज की चौथी क्लास से इसकी तुलना हो सकती है। इसके वाद मैं और पढ़ता, तो अपर प्रायमरी की परीक्षा देकर मिडिल भी पास कर सकता था।

पर अव पिताजी ने भी मान लिया कि इस 'विशारद' को व्यवसाय में डालना चाहिए। इसलिए तेरह साल की अवस्था में पिताजी के नीचे व्यवसाय करने लगा, और 'स्कूली जीवन' को तो, यदि उस जीवन को इतनी वडी उपमा देने की मैं धृष्टता करूँ, अन्तिम नमस्कार किया। यह है मेरी शिक्षा की कहानी !

पर जब व्यवसाय मे पडा, तब मैंने अपनी इस कमी का

स्पष्ट ज्ञान हुआ। यह अनुभव होते ही मेरी यह कमजोरी जोर से मुझे सताने लगी, और इसीके साथ-साथ जिज्ञासा की अमिट जागृति हुई, जो आज भी निरन्तर जारी है।

नौ-दस साल की उम्र मे 'सुखसागर' और 'भारतसार' मै पढ गया था, इसके कारण हमारी प्राचीन कथाओ से मै काफी परिचित हो गया। अब हिन्दी के ज्ञान के सहारे जो भी हिन्दी-पुस्तक मुझे मिली, उसे हजम करने लगा। उन दिनो हिन्दी का साहित्य काफी कमजोर था, पर जो भी मिला, उसीसे सन्तोप किया। बम्बई मे रहने के कारण गुजराती भाषा का मुझे ठीक ज्ञान हो गया था, इसलिए हिन्दी-साहित्य की कमी को गुजराती से भरने की कोशिश करने लगा। गुजराती-साहित्य काफी पढ जाता था। पर जव अग्रेजी अखबार पढने का प्रयत्न किया, तो अग्रेजी-शव्दावली का स्वल्प ज्ञान मेरे रास्ते मे वाधक होने लगा। उससे युद्ध करने के लिए डिक्शनरी की मैने शरण ली। साथ मे कॉपी-बुक की भी सहायता ली। डिक्शनरी मे शव्दार्थ देखकर कॉपी-वुक मे उस शव्द का अर्थ लिख लेता था, और शव्द के उच्चारण और अर्थ को रट-रटकर याद करता रहता था। बम्बई मे रहने के कारण लोगो को इधर-उधर अग्रेजी मे बात करते सुनता था, इससे भी उच्चारण सुधारने का मौका मिल जाता था।

इसके वाद तो सोलह साल की आयु मे मैने कलकत्ते मे स्वतत्र व्यवसाय शुरू कर दिया। इस व्यवसाय के सिलसिले मे मेरा अग्रेजो से, और अमरीकी लोगो से काफी सम्पर्क वढा। इस सम्पर्क से मुझे अग्रेजी का ज्ञान बढाने का अच्छा अवसर मिला। मेरा शव्द-कोश समृद्ध होने लगा। नये-नये मुहावरे भी आने लगे

और उच्चारण भी सुधरने लगा।

पर केवल भाषा ही तो विद्या नही है। महत्त्वपूर्ण विषयो का अभाव मुझे खटकने लगा। जब विदेशियो से बात करता, और वे लोग किसी गम्भीर विषय की चर्चा करते तो मैं अपने को गहरे सागर मे पाता। 'हंसमध्ये बको यथा' जैसी अपनी हालत देखकर मुझे शरम और परेशानी सताने लगी। इसका मुकाबला करने के लिए एकमात्र सहारा था पुस्तको का। मास्टर या अध्यापक रखना पसन्द नही था। समय भी कोई निश्चित नही था कि उसी समय मास्टर को बुलाऊँ। इसलिए एकमात्र उपाय था पुस्तको द्वारा ज्ञान ढूँढना। हिन्दी और गुजराती पुस्तको की परिधि से बाहर निकलकर अब मैंने अंग्रेजी-साहित्य का आश्रय लेने का सोचा और विचार को कार्यरूप मे परिणत भी कर दिया। इससे मेरा भाषा का ज्ञान भी सुधरा और नये-नये विषयों का भी ज्ञान-सञ्चय होने लगा। हिन्दी, गुजराती और कुछ संस्कृत से तो मैं परिचय पा गया था, टूटी-फूटी बँगला भी आती थी। पर अंग्रेजी की कमी ज्यो-ज्यो कम हुई, त्यों-त्यो अन्य जटिल विषयो मे प्रवेश करने के लिए अंग्रेजी-साहित्य से मुझे सहायता मिलने लगी।

इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, विभिन्न फिलासफरो की फिलासफी और साइन्स जैसे क्षेत्रो मे मेरी रुचि बढी और उस रुचि के अनुसार बौद्धिक भोजन भी जुटाने लगा। बडे लोगो की जीवनियो की जो भी सरल पुस्तक हाथ मे आई, उसे चाव से पढ गया। रूसो, थोरो टॉलस्टाय, सुकरात, प्लाटो, आरिस्टाटल, शेक्सपीयर, गोल्डस्मिथ, डिकेन्स वगैरह सबको पढता गया। मार्क्स भी पढ गया, हालाकि शुरू-शुरू मे समझने मे कठिनाई

पड़ी। अर्थशास्त्र के नये या पुराने साहित्य से भी परिचय करने की चेष्टा की, पर जितना पढा, उससे हजम कुछ ज्यादा किया। जो पढता, उसपर अपनी स्वतत्र राय भी कायम करता। तिलक के 'गीता-रहस्य' ने हिन्दू-दर्शनो का अनुपम दिग्दर्शन कराने मे मुझे सहायता दी। स्वामी दयानन्द के 'सत्यार्थ-प्रकाश' ने खडन करने की वृत्ति पर प्रकाश डाला। पर यह नही कह सकता कि इन पुस्तको ने मुझपर कोई प्रभाव डाला। अग्रेजी के बाद फ्रेंच की ओर भी रुचि बढी। वह भी कुछ सीखी। यह सारा क्रम आज भी चल रहा है।

जिज्ञासा जारी है। कमियो का भान है। **अजरामरवत् प्राज्ञः विद्यामर्थं च चिंतयेत्।** अपने-आपको मनुष्य अजर-अमर मानकर पढता जाय, यह सबक मैने सीखा। इसे सीखने से ही मनुष्य अपने अज्ञान की, अपनी तुच्छता की और ईश्वर की महानता की अनुभूति करता है।

कार्य मे व्यस्त रहते हुए भी पढने के लिए मुझे अब भी समय मिल ही जाता है। साल मे पन्द्रह-बीस अच्छी पुस्तके भिन्न-भिन्न विषयो पर पढ लेता हूँ। इसके माने यह नही कि पुस्तक की एक-एक पक्ति पढ डालता हूँ। पुस्तक के सार की तरफ अधिक आकर्षण रहता है, वनिस्वत उसके निरर्थक बनाव-शृगार के। जैसाकि विनोबाजी ने कहा है, "मै सन्तरे खाता हूँ, पर उसके छिलके या बीज नही", मै पुस्तक पढता हूँ, पर उसके बनाव और शृगार को नही।

शिक्षा-सम्पादन की इस मेरी अजीब पद्धति से यह पक्का स्वभाव बन गया कि बिना शिक्षक की सहायता मे ही विद्या-उपार्जन करने की कोशिश करूँ। इसलिए जो भी कुछ स्कूल

छोडने के वाद सीखा, वह अपने खुद के परिश्रम से और पुस्तको की सहायता से। गुरु से सीखने के प्रति मेरी अरुचि शायद शुरु से ही रही है, और यह अरुचि अब स्वभावतया इस उम्र मे और भी बढ गई। सगीत भी सीखा और सीखना अव भी जारी है, पर सीखा रेकार्डो की वदौलत।

कुछ ऐसा लगता है कि हमने गुरु पर आवश्यकता से अधिक बोझ लाद दिया है। गुरु का आवश्यकता से अधिक सहारा लिया है। यह मेरी समझ में मानसिक आलस्य के लक्षण है।

गुरुः ब्रह्मा, गुरु विष्णु गुरु देवो महेश्वर.।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मात् श्रीगुरवे नम'॥

यहाँ 'तस्मै' के स्थान पर 'तस्मात्' पाठ रखकर इसका अर्थ कुछ भिन्न लगाना चाहिए। अर्थात् गुरु ब्रह्मा ही है, गुरु विष्णु ही है, महेश्वर ही है और परब्रह्म ही है, इसलिए गुरु अर्थात् ईश्वर को नमस्कार करता हूँ। ईश्वर कहो, परमात्मा कहो या अपनी आत्मा कहो, तात्पर्य एक ही है। मेरा खयाल है कि मनुष्य को स्वय ही अपने-आपका गुरु वनना चाहिए। दत्तात्रेय ने पशु-पक्षियो तक से सीखा, पर स्वय ही तो सीखा। गेलीलियो, एडीसन, वेंजामिन फ्रेंकलिन, जेम्स वाट, मैडम क्यूरी इन सबने नये-नये आविष्कार गुरु से सीखकर नही किये, खुद अपने-आप ही किये। इसलिए मनुष्य गुरु का अनावश्यक आश्रय न लेकर स्वयं अपने-आपको गुरु वनाये, तभी वह प्रगति कर सकता है। तोते की तरह रटंत करनेवाला तो तोता ही रह जाता है।

पर मेरी इस पद्धति का सभी अनुसरण न करे; क्योंकि इसमे भय भी है। पर एक चीज, जिसका मै जोरों से समर्थन करना चाहता हूँ, वह यह है कि जो छात्र स्कूल या कालेज में अध्ययन

करते है, वे घर पर अध्यापक को बुलाकर न पढे। अमरीकी पद्धति यह है कि कालेज मे प्रोफेसर छात्रो को कुछ पढाते है और घर पर उनको पुस्तको के अध्ययन से ज्ञान-उपार्जन करना पडता है, अध्यापक छात्रो को एक काल्पनिक परिस्थिति देते है और उनसे, उस परिस्थिति को सुलझाने का कौन-सा तरीका हो सकता है, यह पूछते है। इसे 'क्विज' कहते है। हर हफ्ते 'क्विज' छात्रो को मिलते है। उन्हे स्वतन्त्र अध्ययन करके उनका उत्तर भेजना पडता है। यही उनकी परीक्षा है। और सही उत्तर के माने है परीक्षा मे उत्तीर्ण होना।

हमारे यहाँ की परीक्षा की पद्धति से यह विलकुल निराली है और अच्छी है, क्योकि छात्र को यह स्वावलम्बी बनाती है। यदि छात्र उत्तीर्ण नही होता तो वह लम्बा अर्सा लेकर उत्तीर्ण होने की कोशिश करता है। पर हर हालत मे उसे स्वतत्र विचार और अध्ययन करना पडता है। इसलिए घर पर प्रोफेसर को बुलाकर पढना और उसका आश्रयी बनना, यह छात्र की स्वतत्र बुद्धि को नष्ट कर देता है और उसे गुलाम बना देता है। इसलिए इतनी सिफारिश तो अवश्य करूँगा कि विद्या के अर्थी स्वतत्र बने, गुरु के आश्रयी न बने।

मेरा यह भी मानना है कि गुरु सर्वविद् नही होते। गुरु भी कई अशो में उतना ही बुद्धू है, जितने कि हम सब है। मैने बडे-बडे विद्वानो को मूर्खता की वाते करते पाया है। एक वडे विद्वान् ने मुझे चकित कर दिया, जव उसके मुँह से सुना कि उसकी कौटुम्बिक दुर्गा सवा रुपये का प्रसाद पाकर उसे बडी-बडी आफतो से ऐन मौके पर वचा लेती है। वैज्ञानिको को मैने भूत-प्रेत की वात करते सुना है। इग्लैण्ड के एक वडे वैज्ञानिक भूतात्मा

को बुलाकर उससे वार्तालाप करने का दावा करते थे। यहाँ भी ऐसे अधभक्तो को देखा है, जो कहते है कि उन्हें पेसिल से लिखकर प्रेतात्मा परलोक का हाल बताती है ! भोले लोग चाहे अष्ट-ग्रह और ऐसी-ऐसी अनहोनी बातो पर विश्वास करे, पर पढे-लिखे लोग भी ऐसी बाते करे, तो मान लेना, यह अज्ञान की निशानी है। सो मूर्खता का ठेका अपढो के पास ही नही है, पढे-लिखे लोग भी जादू, मंत्र, ज्योतिष, भूत-प्रेत और अन्य वहमो के उतने ही शिकार है, जितने कि ग्रामीण अनपढ़।

न किसी एक पुस्तक को ही सम्पूर्ण मानना चाहिए, चाहे वह कितनी ही 'आप्त' क्यो न हो। आप्त प्रमाण मानना ही चाहिए, ऐसे विश्वास मे काफी खतरा है। इसलिए गुरु का वाक्य या किसी ग्रन्थ का वाक्य अभ्रान्त है, ऐसा मानने मे बुद्धि का ह्रास है। मेरा आग्रह यह है कि हम निरालम्ब होकर ही जिज्ञासा की तृप्ति करे। इसके यह माने नही कि हम अपने अग्रज विद्वानों और महापुरुषो के अनुभव का लाभ न ले, पर लाभ भी तभी मिलेगा, जब हम हर पुराने विचार का स्वतंत्रतापूर्वक निर्णय करें, स्वतंत्रतापूर्वक उसे बुद्धि की कसौटी पर कसकर स्वतंत्र निर्णय करें। इस दृष्टि से मैं महज श्रद्धा का अत्यन्त विरोधी हूँ। ईश्वर में मेरी श्रद्धा है। वह इसलिए कि बुद्धि के प्रयोग से हम देखते हैं, अनुभूति करते हैं कि कोई ऐसी शक्ति है, कोई ऐसा कुदरत का कानून है, जो विश्व के तंत्र को सुचारु रूप से चलाता है। हाइड्रोजन का आणविक वजन निरन्तर १ ही क्या रहता है, चाहे हम उसे कितना ही उलट-पुलट क्यों न करें, और ऑक्सिजन का १६ ही क्यों? सूर्य-मण्डल के चारों ओर ग्रह निरन्तर एक ही गति से क्यों घूमते हैं? और, अणु के प्रोटीन के चारों ओर ग्रहों

की तरह इलेक्ट्रोन क्यों एक ही चाल से निरन्तर घूमते रहते है ? यह सादृश्य क्यो है ? इसका उत्तर वैज्ञानिक भी नही दे सके; क्योकि वैज्ञानिको का निर्णय है कि साइस की चरम सीमा से ही ईश्वर का आरम्भ होता है। यह कोरी श्रद्धा की बात नही है। हमारी बुद्धि बताती है कि जो कुछ विश्व का व्यवहार चलता है, वह महज आकस्मिक नही, बल्कि उसके पीछे कोई सत्ता है। इसे ईश्वर कहो, प्रकृति कहो, कुदरत का कानून कहो, इससे कोई बहस नही, पर जिसके पीछे स्वतत्र विचार न हो, ऐसी खालिस श्रद्धा आलस्य और मूर्खता की निशानी है। **बुद्धौ शरणं अन्विच्छ,** तू बुद्धि की शरण ले ! जो सीखा वह पूर्ण नही है। 'नेति नेति' इस सिद्धान्त का कायल होने से मै कोरी श्रद्धा का बिलकुल हिमायती नही हूँ।

मैने स्कूल और कालेज की शिक्षा नही पाई, इसका कोई पछतावा नही, क्योकि इसके लाभ और हानि को जानता हूँ। हानि तो प्रत्यक्ष है। कालेज मे पढता तो कई बाते ज्यादा जानता, मेरा कुछ अशो मे मार्ग सुगम होता, पर लाभ यह है कि बुद्धि को स्वतन्त्रता के साथ विचारने की आदत पड गई। अध्यापक के पास पढने से यदि छात्र मे श्रद्धा हो तो अध्यापक का बुरा असर भी पड जाता है। बताया गया था कि तत्त्व पॉच होते है। पीछे से पता चला कि तत्त्व तो एक सौ से अधिक है और नये-नये भी प्रकट हो रहे है। अध्यापक की सिखाई गलतियो को सुधारने मे समय अधिक लगता है, बनिस्बत अपनी की गई गलती सुधारने के। इसके लिए दिमाग की खिडकी खुली होनी चाहिए। अश्रद्धा से सनी हुई श्रद्धा ही मनुष्य को सस्कृत विचार देती है।

शिक्षा कैसी हो ?—इसपर भी वाद-विवाद है।

शिक्षण-क्रम के सम्बन्ध मे हर मुल्क में असन्तोष रहा है। क्या परिवर्तन हो, इसपर भी भिन्न-भिन्न मत रहे है। पर इसका निर्णय महज विद्वानो का ही क्षेत्र नही है। मेरे जैसे लोगो को भी, जिन्होने ससार की पाठ्य पुस्तको से ही अनुभव प्राप्त किया है, राय देने का अधिकार तो है ही। इस अधिकार के नाते मेरा खयाल है कि कुछ मूलभूत सिद्धान्तो पर तो राय कायम हो ही सकती है। हॉ, राय देना सहज है, पर उस राय को कार्यान्वित करने के लिए क्या करना चाहिए, यह कठिन समस्या है, और यह विशेषतया शिक्षको के क्षेत्र की वात है।

मूलभूत सिद्धान्तो मे हम अपनी राय दे, तो एक तो मेरा यह आग्रह है कि छात्रों की शिक्षा एकागी नही होनी चाहिए। उनका पठन विविध विषयो का होना चाहिए, अर्थात् विज्ञान या इजीनियरिग का छात्र महज लेबोरेटरी या वर्कशाप तक ही सीमित न रहे, उसका दायरा अन्य क्षेत्रो मे भी थोडा-थोडा होना चाहिए। आजकल ह्यूमेनिटी के नाम से अन्य विषयो का भी विज्ञान और इजीनियरिग की शिक्षा मे प्रवेश हुआ है, पर यथेष्ट नही। वात तो यह है कि आर्ट का छात्र थोड़ी-थोड़ी साइंस और इजीनियरिग जाने, और साइस और इंजीनियरिग के छात्र इतिहास, फिलासफी भी कुछ मात्रा मे जाने, यह आवश्यक है। कुछ-कुछ सब विषयो का और अत्यधिक एक विषय का ज्ञान हो, पाठ्यक्रम की बुनियाद ऐसी होनी चाहिए।

आज की परीक्षा की पद्धति को बदल देना चाहिए। परीक्षा छात्र के ज्ञान की हो, न कि पन्ने की। छात्र की सफलता-असफलता का निर्णय उसके ज्ञान और व्यवहार, उसकी नेतृत्व-शक्ति इत्यादि से करना चाहिए।

नैतिक शिक्षा का अभाव दूर करना चाहिए। छात्र को सिखाना चाहिए कि वह जाति-पॉति और प्रात के बधनो से अपना विकासोन्मुख व्यक्तित्व खो बैठेगा। तरह-तरह के वहमो से उसे मुक्त होना चाहिए। स्वतत्र विचार करने की शक्ति को पोषण देना चाहिए।

पर यह सब कहना आसान है, इसे कार्यान्वित करने मे परिश्रम और उडान की जरूरत है। मुख्य वस्तु, जो इसमे सहायक हो सकती है, वह है अध्यापक और सस्था का वातावरण। अध्यापक का पद प्रतिष्ठा का होना चाहिए। वेतन खासा अच्छा देना चाहिए। सस्था की सफाई, सुघडाई पर भी जोर होना चाहिए।

यह सब होते हुए भी असल वातावरण तो छात्र के कुटुम्ब का है, और कुटुम्ब का वातावरण उज्ज्वल तब होगा, जबकि देश सुशिक्षित और सस्कृत होगा। ये सब चीजे अन्योन्याश्रित है।

इसके माने यह है कि धीरज से आगे बढना पडेगा। एक दिन मे कोई भारी परिवर्तन हो जाय, ऐसी आशा 'आकाश-कुसुम' के समान है। पर उद्योग करना है और आदर्श सस्था स्थापित करनी है। कठिनाइयॉ तो आती ही रहेगी। संघर्ष मनुष्य का धर्म है। **'मामनुस्मर युद्ध्य च'**—भगवान् के भरोसे आगे बढते जाना है। पर शायद यह विषयातर हो गया।

२० दिसम्बर, १९६२

## ३

# मेरे जीवन में गांधीजी

गाधीजी के साथ मेरा पहला सपर्क सन् १९१५ मे हुआ, जवकि दक्षिण अफ्रीका से लौटने के थोड़े ही दिनों बाद वे कलकत्ता आये थे। पूरे ३२ वर्ष, अर्थात् दिल्ली-स्थित मेरे मकान मे उनके स्वर्गवास तक, यह सम्पर्क बना रहा। मैं उनके सम्पर्क मे आया कैसे? भाग्य के अदृश्य हाथ बडे रहस्यमय ढग से सूत्र-सचालन किया करते हैं। मेरे जीवन के इस सौभाग्यशाली मोड़ का सारा श्रेय भी इन्ही अदृश्य हाथों को है। मेरे पीछे कोई राजनैतिक पृष्ठभूमि नही थी। इसलिए किसी विश्व-विख्यात व्यक्तित्व का कृपा-भाजन बनने की योग्यता मुझमे नही के ही वरावर थी। मेरा जन्म सन् १८९४ में एक ऐसे गाँव में हुआ था, जिसकी आबादी मुश्किल से तीन हजार थी। गाँव भी ऐसा, जहाँ बाक़ी दुनिया से सम्पर्क के लिए कोई भी आधुनिक यातायात का साधन नही था। न रेल, न पक्की सड़क, न डाक-घर— दुनिया की राजनैतिक हलचलो से एकदम असम्बद्ध। आवागमन के साधन या तो ऊँट अथवा घोड़े थे, या रथ-बहली, जो ख़ासकर अमीर लोग ही रखते थे और जिनका इस्तेमाल ज्यादातर औरतों या अशक्त लोगो के लिए होता था। घोड़े इक्के-दुक्के ही थे और ज्यादातर जागीरदारो की सवारी के ही काम आते थे। ऊँट ही

यहाँ यात्रा के लिए सबसे ज्यादा उपयोगी पशु रहा है। हमारे परिवार मे दो वहुत बढिया ऊँट थे और वाद मे हम लोगो के यहाँ एक रथ भी था। किन्तु लोग दूर का सफर ऊँट पर करना ही पसन्द करते थे। मुझे तो उसकी सहनशीलता, धीरज और मूढता ने हमेशा अपनी ओर आकर्पित किया है। उन दिनो की याद मुझे आज भी झकझोर जाती है, जब एक बार लगातार छ दिन तक ऊँट पर सफर करना पडा था।

चार साल की उम्र मे मुझे पढाने के लिए अध्यापक रखे गए, जो पढने-लिखने की अपेक्षा गणित ज्यादा जानते थे। इस तरह मेरी शिक्षा का श्रीगणेश अक-ज्ञान, जोड़-बाकी, गुणा-भाग से हुआ। नौ वर्प की उम्र मे मैने अग्रेजी की थोड़ी-सी जानकारी के साथ कुछ पढना-लिखना सीख लिया और फिर सिर्फ ग्यारह साल की उम्र मे प्यारेचरण सरकार की 'फर्स्ट वुक ऑव रीडिग' के साथ मेरी शिक्षा समाप्त भी हो गई।

मेरे प्रपितामह एक व्यापारी पेड़ी पर सिर्फ सात रुपये माह-वर पर 'मैनेजर' थे। उनके देहान्त के वाद मेरे पितामह ने अठा-रह साल की अवस्था मे अपना स्वतत्र व्यवसाय शुरू करने का निश्चय किया और वे समृद्धि की खोज मे बबई पहुँचे। बाद मे मेरे पिताजी ने व्यापार को बढाया और मेरे जन्म के समय तक हमारी गणना काफी सम्पन्न परिवारो मे होने लगी थी। करीव पैंतीस वर्ष से हमारा व्यापार उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ चलता आ रहा था। अत जब मेरी उपर्युक्त शिक्षा समाप्त हुई तो मुझे भी अपने वशगत व्यापार मे जोत दिया गया। लेकिन मुझे पढने का शौक था। स्कूल छोड़ने के वाद भी अपने ही ढग से मैने पढना चालू रखा। अध्यापक से पढना मुझे पसन्द नही था। इसलिए

स्कूल छोडने पर किताबे, अखबार और शब्द-कोश ही मेरे मुख्य शिक्षक रहे।

इस भाँति मैने अग्रेजी, सस्कृत तथा एक या दो अन्य भारतीय भाषाएँ, इतिहास और अर्थशास्त्र पढे। मैने काफी सख्या में जीवन-चरित तथा यात्रा-विवरण भी पढे, जिनका मुझे अभी भी शौक़ है।

हो न हो, मेरे अध्ययन ने ही मुझे देश की राजनैतिक स्वतत्रता के लिए प्रयत्नशील बनने तथा तत्कालीन राजनैतिक नेताओं के साथ सम्पर्क क़ायम करने की प्रेरणा दी थी। रूस और जापान के युद्ध ने एशियाई राष्ट्रो मे उत्साह की लहरें पैदा कर दी थी और भारत भी अपनेको इससे अलग नही रख सका। मेरे बाल-हृदय की सहानुभूति निश्चय ही जापान के साथ थी और भारत को फिर से स्वाधीन देखने की आकाक्षा मेरे भीतर हिलोरें मारने लगी। लेकिन जिस परिवार, गाँव या जाति मे मेरा जन्म हुआ था, उसको राजनीति के प्रति मेरी दिलचस्पी उतनी भली नही लगती थी।

मेरे ये मनोभाव गाधीजी के प्रति मुझे आकृष्ट करने के लिए पर्याप्त नही थे। मेरी यही धारणा है कि भाग्य की दया ने ही मुझे उनके पास तक पहुँचाया।

जब मैं सोलह वर्ष का हुआ, मैंने दलाली का अपना स्वतंत्र व्यवसाय शुरू किया। यही से अंग्रेजों के साथ मेरे सम्पर्क का प्रारम्भ हुआ। उनमे मेरे साहूकार और गाहक दोनों थे। इसी प्रसंग में मुझे उनकी समुन्नत व्यापारी-प्रणालियाँ, संगठन-शक्ति और अन्य अनेक विशेषताएँ देखने का अवसर मिला। साथ ही, उनका जातिगत अभिमान भी मुझसे छिपा नही रह सका। मैं

इनके यहाँ जाने के लिए न तो उनके लिफ्ट का ही व्यवहार कर सकता था और न इनसे मिलने की प्रतीक्षा करते समय इनकी बेचो पर ही बैठ सकता था। इस प्रकार के अपमानजनक व्यवहार से मै तिलमिलाकर रह जाता था। इसी ठेस ने मेरे भीतर राजनैतिक दिलचस्पी पैदा की, जिसे मै सन् १९१२ से आजतक निभाता चला आ रहा हूँ। स्वर्गीय लोकमान्य तिलक तथा श्री-गोखले को छोड़कर और कोई राजनैतिक नेता नही, जिसके सम्पर्क मे मैं नही आया। देश का कोई ऐसा राजनैतिक आन्दोलन नही रहा, जिसमे मैने दिलचस्पी न रखी हो, अथवा अपने ढग से उसे मदद न दी हो।

इन दिनो एक वार आतकवादियो से सम्वद्ध हो जाने के कारण मुझे काफी परेशानी उठानी पडी और लगभग तीन महीने गुप्तवास मे रहना पडा। कुछ सहृदय मित्रो के हस्तक्षेप से ही मैं जेल जाने से वच सका। वास्तव मे, आतकवाद के प्रति मेरा विशेप अनुराग कभी नही रहा और गाधीजी के सम्पर्क मे आने के वाद तो उसका रहा-सहा अस्तित्व भी खत्म हो गया।

इस पृष्ठभूमि के साथ यह स्वाभाविक ही था कि मैं गाधीजी की ओर आकृष्ट होने का तकाजा महसूस करता। एक आलोचक के रूप मे मैं उनके निकट आया और अत मे उनका अनन्य भक्त वन गया। फिर भी यह कहना विल्कुल असत्य होगा कि गाधीजी के साथ सव विपयो पर मेरा मेल खाता था। वस्तुत, अधिकाश समस्याओ पर मेरा अपना निजी मत था। रहन-सहन के वारे मे हम दोनो मे कोई साम्य नही था। गाधीजी एक सन्त पुरुष थे, जिन्होने जीवन के सारे सुख-भोगों का त्याग कर दिया था। धर्म ही उनका मुख्य विपय था, जिसने मुझे

इतने आग्रह के साथ उनकी ओर खीचा। अर्थशास्त्र के बारे मे भी उनका दृष्टिकोण मुझसे भिन्न था। वे छोटे पैमानेवाले उद्योग-धधो—चर्खे, करघे, घानी आदि—मे विश्वास रखते थे। इसके विपरीत, मै काफी सुख-सुविधा की जिदगी विताता और बडे-बडे उद्योग-धन्धों के माध्यम से देश के औद्योगीकरण में विश्वास करता था। इतने पर भी हम दोनो के बीच इतना घनिष्ठ संबध कैसे बना रहा ? मै क्यो उनके विश्वास और स्नेह को प्राप्त करता रहा ? इसके लिए मै तो मुख्यत. उनकी महानता और उदारता का ही आभार मानता हूँ। मुझे ऐसे लोग कम ही मिले है, जिनमे गाधीजी का-सा आकर्षण हो और जो अपने मित्रों के लिए इतना स्नेह और अनुराग रखते हो। संसार के लिए संत उत्पन्न करना बहुत कठिन नही है, राजनैतिक नेता भी दुनिया मे काफी पैदा होते रहते है, मगर सच्चे मानव इस दुनिया मे कम ही मिलते है। गाधीजी मानवो मे एक महामानव थे। ऐसी विरल विभूतियाँ धरती प्रत्येक सदी मे पैदा नही करती और अभीतक लोगो ने गाधीजी के मानव-रूप के बारे मे जाना ही कितना थोडा है !

मैंने कहा, बहुत-सी समस्याओं पर गाधीजी के साथ मेरा मेल नही खाता था, फिर भी उनका कोई आदेश मानने से मैंने कभी इन्कार नहीं किया। दूसरी ओर, उन्होंने भी मेरे विचार-स्वातंत्र्य को सहन-भर ही नही किया, बल्कि इसके लिए वे मुझे उतना ही ज्यादा प्यार भी करते रहे, जितना कोई पिता अपने बच्चे को करता है। इसीलिए हमारा सबध एक तरह से पिता-पुत्र के पारस्परिक लगाव-जैसा हो गया था, जो उनके जीवन-काल तक बराबर अक्षुण्ण बना रहा।

अतिम बार उनके जो दर्शन मैने किये, वे उनके भौतिक अवशेष-मात्र के थे। यह भाग्य की क्रूरता थी कि जब उन्होने अंतिम सॉस ली तो मै उनके पास नही था। उनके निधन के केवल दस घण्टे पूर्व ही मै उनसे अलग हुआ था। मुझे अपने गॉव, जो दिल्ली से १२० मील दूर है, जाना पडा था। वहॉ मै एक प्रमुख मत्री को अपनी शिक्षा-सस्थाओ का निरीक्षण कराने के लिए ले गया था। मैने सात बजे सुबह अपना घर छोडा था। प्रस्थान से पूर्व मै गाधीजी के कमरे मे उनसे विदा लेने गया था। लेकिन वे विश्राम की गहरी नीद मे सो रहे थे, इसीलिए मैंने उन्हे जगाया नही। इसके दस घण्टे बाद पिलानी मे मेरा पुत्र मेरे पास दौडा हुआ आया और उसने मुझे बताया कि रेडियो ने घोपित किया है—"हत्यारे ने गाधीजी को गोली मार दी।" मै विश्वास न कर सका, लेकिन कबतक अविश्वास करता!

तत्काल दिल्ली लौट जाना सम्भव नही था। हमारा गॉव न तो रेल से सम्बद्ध था, न सडक से। मुझे रात वही बितानी पडी। नीद बीच बीच मे उचट जाती थी। मैने सपना देखा कि मै दिल्ली के अपने घर मे वापस चला गया हूँ, जहॉ गाधीजी रहते थे और जहॉ उनका देहान्त हुआ था। मै उस कमरे मे गया, जहॉ उनका शव रखा हुआ था। मेरे कमरे मे प्रवेश करते ही वे उठ बैठे और बोले, 'मुझे खुशी है कि तुम वापस आगए। यह गोली-काड कोई निरुद्देश्य घटना नही थी, वरन् एक गहरा षड्यत्र था। लेकिन मै खुश हूँ कि उन्होने मेरा अंत कर दिया। मै अपना काम कर चुका हूँ और इस प्रस्थान का मुझे जरा भी दु ख नही है।' कुछ देर तक हम लोग बाते करते रहे। उसके बाद उन्होने अपनी घडी निकाली और कहा, 'अब शव-

यात्रा का समय हो गया है। लोग मुझे ले जाने आयेंगे, इसलिए मैं लेट जाता हूँ।' वे पुन. लेट गए और नि.स्पंद हो गए। कैसा अद्भुत स्वप्न ! शायद यह मेरे अपने हृदय की ही प्रतिध्वनि थी।

दूसरे सुबह मैं दिल्ली लौटा और उस कमरे मे गया, जिसमे उनका मृत शरीर रखा हुआ था। लाखो की जन-मेदिनी से बिडला-भवन घिरा था। गाधीजी का शरीर पड़ा था शात, अविचल। ऐसा नही प्रतीत होता था कि वे मर गए है। यही था उनका अंतिम दर्शन, जो मैंने किया। १६ जून, १९४० के एक पत्र मे महादेव भाई ने मुझे लिखा था—"लार्ड लिनलिथगो के प्राइवेट सेक्रेटरी का एक पत्र आया है, जिसमे उन्होने लिखा है—'जर्मन वायरलैस ने यह खबर प्रचारित की है कि ब्रिटेन के गुप्त एजेट गाधीजी की हत्या करने की योजना बना रहे है।' इच्छा विचार की जननी है और इसीलिए आशका है, कदाचित् जर्मनी के एजेण्ट ब्रिटेन के विरुद्ध प्रचार करने के उद्देश्य से उस तरह की कुछ योजना बनाये। पहले से ही सतर्क रहना हममे से प्रत्येक के लिए हितकर होगा। अत गांधीजी स्वीकार करें और उनके काम मे विघ्न न पडे तो रक्षा के लिए पुलिस की पूरी व्यवस्था करने मे हिज एक्सेलेंसी को बड़ी खुशी होगी।"

महादेव भाई ने इसका उत्तर दिया था—"गाधीजी ऐसा कोई प्रबन्ध नहीं चाहते। जीवन-भर हत्या की धमकी से घिरे रहकर, अनुभव के आधार पर, उन्होंने यह धारणा दृढ बना ली है कि ईश्वर की इच्छा के बिना एक पत्ता तक हिल नही सकता। न कोई हत्यारा किसीके जीवन की अवधि कम कर सकता है और न कोई मित्र ही किसीको मृत्यु से बचा सकता है।" मझे निर्ग

पत्र मे महादेव भाई ने लिखा था कि वह उत्तर वापू की ही भाषा मे लिखा गया था।

उनके अन्त के आठ साल पहले से ही घटनाएँ कितनी खूबी से अपनी छाया फैला रही थी, लेकिन इस नियति का निमित्त न तो कोई जर्मन बना और न कोई अग्रेज ही। वह हत्यारा तो था एक भारतीय, एक कट्टर हिन्दू!

गाधीजी को वम द्वारा मारने के निष्फल प्रयत्न के वाद सरकार द्वारा उनकी सुरक्षा की बडी सुदृढ व्यवस्था की गई थी, यहाँ तक कि मेरे घर के कोने-कोने मे सन्तरी तथा सादी पोशाक-वाली हथियारबद पुलिस चक्कर काटती दीख पडती थी। इतनी ज्यादा सतर्कता मुझे अच्छी नही लगी।

सन् १९१३ मे तत्कालीन वायसराय लार्ड हार्डिज बनारस हिन्दू-विश्वविद्यालय का शिलान्यास करने गये हुए थे। इसके पूर्व जब वे नई राजधानी मे समारोहपूर्वक प्रवेश कर रहे थे, तो उनपर एक बम फेका गया था। इसलिए बनारस मे उनकी हिफाजत के लिए काफी बडी व्यवस्था की गई थी। तालाबो तक मे बदूको और रिवाल्वरो से लैस पुलिस तैनात की गई थी। गाधीजी को यह सब आडम्बर नापसद आया और उन्होने सरे-आम इसकी आलोचना करते हुए कहा था कि इस तरह तो वायसराय लार्ड हार्डिज जिन्दगी मे ही मौत के दिन विता रहे है।

मैने गाधीजी के सामने इस अभिमत को दुहराया और कहा, "क्या यह अनुचित नही लगता कि हम प्रार्थना भी बदूको की छाया मे करे ? आपका जीवन अत्यत मूल्यवान् है, लेकिन उससे भी ज्यादा मूल्यवान् है आपकी कीर्ति। अत, क्या आप इस भाँति पुलिस का अतिशय प्रवध पसद करते है, जवकि आपने आजीवन

उससे घृणा की है ?"

गाधीजी ने मेरे साथ सहमत होते हुए कहा, "इस सबंध मे वल्लभभाई से बाते करो, जो इस सारे प्रबध का जिम्मेदार है। मैं इस प्रकार के प्रबधो से नफरत करता हूँ। लेकिन मुजे यह सब अपनी रक्षा के लिए नही, बल्कि सरकार की कीर्ति-रक्षा के लिए सहन करना पडता है।" मैंने सरदार से भी बाद मे इस प्रसंग में बाते की और जैसी कि उनकी आदत थी, उन्होने थोडे में ही जवाब दिया, "तुम इसके लिए क्यो चिंता कर रहे हो ? यह तुम्हारा काम नही है, यह जिम्मेदारी मेरी है। अगर मेरा बस चलता तो बिडला-भवन मे प्रवेश करनेवाले हर आदमी की मै तलाशी लेता। लेकिन बापू मुझे ऐसा नही करने देते।" आखिर दुर्भाग्य की क्रूर इच्छा पूर्ण हुई। जैसा कि गाधीजी की ही भाषा मे महादेव ने लिखा था, कोई मित्र उन्हे नही बचा सका। मैं स्वय अपनी बैल्ट मे पिस्तौल छिपाये हुए प्रार्थना मे शामिल होता था और उनकी ओर आनेवाले हर आदमी पर नजर रखता था। लेकिन यह सब हमारा वृथाभिमान था। एक पत्ता भी ईश्वर की इच्छा के बिना नही हिलता।

इस घटना के लगभग दो बरस बाद ही दूसरे महान् पुरुष चल बसे, जिनके साथ भी मेरा ऐसा ही प्रगाढ सम्बंध था। यह थे सरदार पटेल। सरदार हर प्रसग मे महात्मा गाधी के दृढतम अनुयायी थे। आत्म-सयम के विषय मे तो और भी अधिक। वे लौह-पुरुष कहलाते थे, लेकिन उनकी इस ऊपर से ओढी हुई कठोरता के नीचे कोमलता और उदारता की अपरिमित राशि छिपी रहती थी। वे भी स्वतंत्र विचार के व्यक्ति थे, तो भी हर मामले मे, चाहे वह राजनैतिक हो या सामाजिक, वे अपने गुरु

के चरण-चिह्नो पर ही चलते थे। व्यक्तिगत तौर पर, अकेले मे, वे उनसे झगड़ लेते थे, किंतु बाहर सदैव उनका अनुकरण ही करते थे। यह कितने अचरज की बात है कि भारत मे बहुत-से बडे-बडे लोग गाधीजी के विचारो से असहमत होते हुए भी सदैव उनके अविचल अनुयायी बने रहे ! नि सदेह, मित्रो के प्रति उनके प्रगाढ अनुराग और आत्मीय भाव ने ही इस विरोधाभासी चमत्कार को सभव कर दिखाया था। इसीलिए सरदार यद्यपि कुछ प्रसगो पर उनसे सहमत नही होते थे, फिर भी बिना आना-कानी के प्रत्येक अवसर पर वे गाधीजी की इच्छानुसार ही चलते थे। गाधीजी की मृत्यु के बाद सरदार हृदय-रोग से पीडित हो गए। गाधीजी की मृत्यु से उनके हृदय को बडा तीव्र आघात लगा था। कोई साधारण मनुष्य होता तो शोक के इस आवेग को रोकर हल्का कर लेता, किंतु सरदार ने शोक को प्रकट नही होने दिया। फलत , यह उनके हृदय मे समाकर रह गया। मै उनके सपर्क मे उनकी मृत्यु के लगभग अट्ठाईस वर्ष पूर्व आया था। तबसे अत तक हम दोनो का स्नेह-सपर्क अक्षुण्ण बना रहा।

सरदार भी मेरे ही घर मे मरे और भाग्य का यह दूसरा व्यग था कि उनके अतिम क्षणो मे भी मै उनके साथ नही था। अपनी मृत्यु के चार दिन पूर्व वे दिल्ली से बबई चले आये थे। मत्रिगण तथा बहुत बडी सख्या मे उनके मित्र हवाई अड्डे पर उनको विदा देने आये थे। हवाई जहाज के दरवाजे पर एक कुर्सी पर बैठे हुए उदासी-भरी मुस्कान से उन्होने प्रत्येक का अभि-वादन किया। वे जानते थे कि उनका प्रयाण-काल सन्निकट है। मै भी जानता था कि वे शीघ्र ही अनत यात्रा को प्रस्थान करने-वाले है, लेकिन मैने अपनेको बरबस यह विश्वास दिलाया कि

नही, अंत अभी इतना निकट नही है। इसके चार रोज बाद तो उन्होने हमेशा के लिए ही विदा ले ली। अंत मे सरदार का भी मृत शरीर ही मुझे देखने को मिला।

महादेव देसाई का सन् १९४२ मे आगाखाँ-महल मे देहान्त हो चुका था। यह महल उस समय कारागार मे परिवर्तित कर दिया गया था। वह मेरे अभिन्न मित्र थे। अपने प्राण उन्होंने अपने गुरु की गोद मे छोड़े। उस समय उनका कोई मित्र उनके निकट नही था। सहृदयता की तो मानो वह मूर्ति थे। महादेव का निर्माण महात्माजी के द्वारा हुआ था, किंतु यह कहना भी गलत नही होगा कि कुछ अंशो तक महादेव ने भी महात्माजी को अपने साँचे मे ढाला था। महादेव देसाई का व्यक्तित्व भी बड़ा आकर्षक और स्नेहशील था। वह बडे विद्वान् एव हृदय-ग्राही थे। जब कभी बापू किसी बात की ज़िद पकड लेते तो सिर्फ़ सरदार और महादेव ही उन्हें अपने पथ से विचलित कर सकते थे। कभी बापू क्रोधावेश में झुकते और कभी मुक्त कहकहे के बाद।

कल्पना कीजिए, यदि ये तीनो आज कुछ वर्षों का और आयुर्बल लेकर पूर्ण स्वस्थ जीवित रहते तो कैसा होता भारत का इतिहास! किंतु यह तो निरुद्देश्य कल्पना है। मेरा विश्वास है कि कोई भी मनुष्य अपना काम पूरा करके ही इहलोक से प्रस्थान करता है। इसलिए इन मृतात्माओं के प्रति शोक करना निष्प्र-योजन है। अब तो उत्तरदायित्व का भार आज की और भविष्य की पीढ़ी पर है।

१८ जुलाई, सन् १९३५ को मैं श्री बाल्डविन से लदन मे मिला था। वार्तालाप के सिलसिले मे उन्होंने निम्नलिखित

अभिमत प्रकट किया था—"लोकतन्त्र की अपनी खास खामियाँ होती है। लेकिन अबतक की शासन-पद्धतियो मे यह सर्वोत्तम सिद्ध हुई है। ईश्वर को धन्यवाद है कि इस देश मे अधिनायक-तन्त्र (तानाशाही) नही है। श्रेयोन्मुख अधिनायकतन्त्र अपने तरीके पर अच्छी चीज है, लेकिन तब तो ऐसे अधिनायक-तन्त्र मे आपको निष्क्रिय बैठे रहने के सिवा और कुछ नही करना रहता। आज यह नही हो सकता । लोकतन्त्र मे आप सबको काम करना पडता है, और यही है लोकतन्त्र की सबसे अच्छी खूबी। यदि हर व्यक्ति काम करेगा तो भारत मे यह प्रयोग अवश्य कृतकार्य होगा। यदि प्रत्येक आदमी काम नही करेगा तो लोक-तन्त्र का यह प्रयोग कभी सफल नही हो सकेगा। लोकतन्त्र मे एक वर्ग ही दूषित हो सकता है। इग्लैंड या भारत मे ऐसे वर्ग मौजूद है, जो दूषित होगे ही, किंतु हमे इन वर्गों के आधार पर सारी जनता का मूल्याकन नही करना चाहिए, और काग्रेस का जहाँ तक सवाल है, उसे तो यह बात महसूस कर ही लेनी चाहिए कि देशहित का अभी बहुत बडा क्षेत्र उसके सामने पड़ा है।"

लोकतंत्रात्मक सरकार की स्थापना का दायित्व ग्रहण करने के बाद बापू ने १८ जुलाई, १९३७ को मुझे लिखा था—"हमारी वास्तविक कठिनाई तो अब शुरू होती है। हमारा भविष्य हमारी दृढता, सत्य-निष्ठा, साहस, सकल्प, उद्यम और अनुशासन पर निर्भर करता है। जो तुम करते आ रहे हो, वह अच्छा है।" आखिर जो कुछ किया गया है, वह ईश्वर के नाम पर और ईश्वर मे आस्था के साथ किया गया है। तुम श्रेष्ठ बने रहो। आशीर्वाद।"

श्री बाल्डविन ने कहा था—"लोकतन्त्र मे सबको काम

करना पड़ता है।" बापू ने जोर दिया कि हमारा भविष्य हमारी दृढ़ता, सत्य-निष्ठा, साहस, संकल्प, उद्यम और अनुशासन पर निर्भर करेगा। दोनों ने एक ही बात दो ढंग से कही। ये दोनों उपदेश हमारे पथ के दीपस्तम्भ बने!

## ४ | गांधीजी के साथ १५ दिन

जगल की ओर से एक बैलगाडी को तेजी से दौडाते हुए तीन वृद्ध किसान आ रहे थे। गाधीजी को देखकर सहसा उन्होने गाडी रोकी। बडी फुर्ती के साथ अटपटे-से एक के बाद एक ने उतरकर गाधीजी के चरणो मे अपना सिर टेका और चुपचाप जैसे आये, वैसे ही गाडी मे बैठकर आगे चल दिए। न कुशल पूछी, न क्षेम। न अपना दुखडा रोया, न आँसू बहाया। वे खूब जानते है कि गाधीजी की हरएक साँस तो गरीब के लिए ही निकलती है, इसलिए उन्हे कहे तो क्या, और पूछे तो क्या ? उनके लिए तो मौन होकर सिर झुकाना ही काफी था। कोई पढा-लिखा होता तो बीसियो बातें पूछता, उलहना देता, आलोचना करता, कितु गरीब मे इतनी कृतघ्नता कहाँ है ! वह तो दूर से ही दर्शन करके सन्तुप्ट होता है। यह तो अनेक घटनाओ मे से छोटी-सी एक साधारण घटना है, कितु गरीबो के हृदयो मे गाधीजी का क्या स्थान है, कैसा सिक्का है, यह जानना हो तो ऐसे ही उदाहरण उपयुक्त है। बछडे की मृत्यु के बाद किसीने कहा था, "आज से महात्मा नही, मिस्टर गाधी कहो। अब तो गाधी का कोई दाम भी नही पूछेगा।" कितु गरीब इस झमेले मे क्यों पडें ? अहिसा किसे कहते हैं और हिसा किसे कहना

चाहिए, यह तात्त्विक विवाद तो उन्हीको शोभा दे सकता है, जिन्हे बहस मे अधिक रस है और काम मे कम। फुरसती आदमियो के लिए वेदान्त का यह तात्त्विक विवेचन जी बहलाने का एक अच्छा साधन साबित हो सकता है। किंतु ऊँट को पापड़ से क्या काम ? आये-साल अकाल और महामारी; न खाने को पूरा अन्न, न शरीर ढँकने को पूरा वस्त्र, जमीदार की ज्यादती, साहूकार की ज्यादती और ऊपर से उपदेशको की हिमाकत। उन्हे क्या पता कि गरीब को रोग रोटी का है, न कि धर्म का। सुदामा की तरह गरीब को ज्ञान नही चाहिए, रोटी चाहिए। गांधी गरीबो को उपदेश देने नही जाता, गाधी उनके हृदय मे प्रवेश करके उनके दु:ख से दुखी होता है —गरीब बनकर रहता है और गरीबो के लिए जीता है। यही कारण है कि गरीबो के हृदय पर गाधी का एकछत्र अधिकार है। भारत के किसी छोटे-से-छोटे गाँव मे जाइये और पूछिये, गांधी कौन है ? तुरत उत्तर मिलेगा कि गरीबो का भला चाहनेवाला। गाधी क्या पढ़े है, क्या लिखे है, क्या कहते हैं, यह उनके लिए व्यर्थ की चिंता है। गाधी बाबा अनाथो के, गरीबों के हितचितक हैं, इसीमे उनके लिए गाधीजी की सारी जीवनी आ जाती है। चाहे यह जीवनी सूत्ररूप से हो, किंतु संसार का अच्छे-से-अच्छा ग्रन्थकार इससे अधिक सक्षेप मे और क्या कह सकता है ! थोडे-से लोग चाहे गाधीजी को 'गो-हत्यारा' कहकर सतोप कर ले, किंतु 'गांधीजी की जय' आज भी आकाश को कँपा देती है।

आजकल गाधीजी वर्धा आये हुए है। वर्धा मे जमनालालजी की प्रेरणा से श्रीविनोबा ने एक सत्याग्रह-आश्रम खोल रखा है और गांधीजी वही ठहरे हुए है। गांधीजी क्या आये, मानो घर

मे कोई बडे-बूढे दादा आ गए हो। आश्रमवासी तो गाधी-जी को 'बापू' ही के नाम से पुकारते है, किंतु बापू होने पर भी बच्चो के साथ गांधीजी बच्चो ही की तरह रहते है। खाना-पीना, काम-काज भी आश्रम के नियमो के मुताबिक। आश्रमवासी शुद्ध घृत के अभाव मे आजकल अलसी का तेल व्यवहार करते है। गाधीजी ने भी बकरी के दूध की जगह अलसी का तेल खाना शुरू कर दिया है। जमनालालजी को इस फेरफार की खबर मिलते ही चिन्ता शुरू हो गई। गाधीजी इस तरह के प्रयोग कर-करके कही अपना स्वास्थ्य न खो बैठे, इस आशका से जमनालालजी ने गाधीजी को समझाना शुरू किया। बहस हुई, झगडा हुआ, अन्त मे जमनालालजी ने बल-प्रयोग किया—"बापू, आप यहाँ मेरी देख-रेख मे है। जैसा मै कहूँ, वैसा कीजिये। इन प्रयोगो के कारण आप यहाँ से बीमार होकर जायँ, यह मै नही बर्दाश्त करने का।" "तो दे डालो नोटिस मुझे, यहाँ से चला जाऊँगा।" गाधीजी ने खिलखिलाकर कहा। जमनालालजी अब क्या कहते ! चुप रहे। गाधीजी का हठ कायम रहा।

अग्रवाल-पचायत ने जमनालालजी को जाति-बहिष्कृत कर रखा है। उनका सबसे बडा गुनाह यह बताया गया कि उन्होने अस्पृश्यो के हाथ का खाया। जमनालालजी के कारण वर्धा मे भी अग्रवालो मे दो दल है। एक दल तो कट्टर पुराने विचार के लोगो का है, दूसरा दल भी यद्यपि पुराने विचारो का ही अनु-यायी है, तो भी जमनालालजी को छोडना नही चाहता। जमना-लालजी ने उन्हे समझाया कि मुझे निबाहना कठिन काम है, इस-लिए आप सामाजिक मामले मे मुझसे मोह तोड ले। किंतु जिनका प्रेम है, वे जमनालालजी को कैसे त्याग दे ? एक दिन कुछ वृद्ध

सज्जनो को अगुआ करके दूसरे दल की मंडली जमनालालजी के पास पहुँची । "जमनालालजी विधवा-विवाह मे शरीक हो, अस्पृश्यो से छुआछूत न माने, उनके लिए मन्दिर खोले, इसमे तो हम शामिल है, किन्तु अस्पृश्यों के हाथ का खान-पान हमे नही रुचता । चाहे हमारे सन्तोष के लिए ही सही, क्या जमनालालजी हमे इतना विश्वास नही दिला सकते कि भविष्य मे वह अछूतो के हाथ का पकाया नही खायेगे ? जब हम लोग इतना आगे बढ़ने को तैयार हैं, तो जमनालालजी हमारे सन्तोष के लिए थोड़ा-सा पीछे क्यो न हटे ?" यह सक्षेप मे उनकी दलील थी। जमनालालजी कहने लगे, "आश्रम में तो सभी जाति के लोग रहते है। क्या मैं आश्रम मे खाने से इन्कार करूँ ?" "आश्रम की कौन कहता है ? यह तो पुण्य-भूमि है ! तीर्थस्थान के लिए कोई रुकावट नही । अन्य स्थानो पर आप ऐसा न करे, यही हमारी माँग है।" इस तरह बहस होती रही। अन्त मे तय हुआ कि गाधीजी के सामने मामला पेश किया जाय। दूसरे दिन वृद्ध लोगो का एक शिष्टमण्डल गाधीजी के पास पहुँचा। गाधीजी ने चर्खा चलाते हुए समाज के अगुओ से बाते प्रारम्भ की। गाधीजी ने पूछा, "जमनालालजी अस्पृश्यों के हाथ का खाते है, इसमे आपको किसका डर है ? समाज का या धर्म का ?" एक वृद्ध ने कहा, "धर्म तो हम क्या समझे ! समाज की रूढ़ि है कि ऐसा नही करना चाहिए। हम जमनालालजी की सब बाते मानते हैं, तो फिर हमारी इतनी बात जमनालालजी क्यो नही मानते ?" गाधीजी ने कहा, "क्यो न माने; किन्तु यदि रूढ़ि का जुल्म हो तो उस रूढ़ि का नाश कर देना चाहिए । प्राचीन काल मे ऐसी रूढ़ि का बन्धन था, यह तो मै नही जानता । मै तो यह जानता

हूं कि जो स्वच्छ है, शराबी नही है, व्यभिचारी नही है, उसके द्वारा स्वच्छता से पकाया हुआ खाने-योग्य पदार्थ हमारे लिए अवश्य भोज्य है। उनको यदि हम कहे कि तुम्हारे हाथ का हम नही खायेगे तो क्या हमारे साथ वे रहेगे ? वे अवश्य हमारा त्याग कर देगे। मै तो केवल उनकी धमकी से भी नही डरता, किन्तु यदि हमारे दोप के कारण वे हमारा त्याग कर दे तो मै उसे कैसे बर्दाश्त कर सकता हूँ ? जो अपवित्र रहते है, मुर्दे का मास खाते है, शराबी है, उनके हाथ का खाने को तो मै नही कहता। उनसे तो मै कह सकता हूँ कि पहले तुम अपनी बुराइयाँ दूर करो तो मैं तुम्हारे हाथ का खाऊँ। किन्तु जो स्वच्छ है, उनके हाथ का तो न खाने से धर्म का नाश हो जायगा। आपमे यदि साहस न हो तो आप चाहे ऐसा न करे। जमनालालजी को आशीर्वाद तो दे, क्योकि वह तो धर्म ही के लिए ऐसा करते है। आप इनको क्यो पीछे हटाना चाहते है ? चाहो तो जमनालालजी से प्रतिज्ञा करा लो कि जो शौचादि को न माने, उस ब्राह्मण या अब्राह्मण किसीके भी हाथ का वे न खाये। किन्तु इससे थोडे ही आपका काम बनेगा ! आप तो पचो के त्रास से भयभीत है और इसलिए जमनालालजी से आग्रह करते है। मै यह कहना चाहता हूँ कि समाज को तो मै भी मान लेता हूँ, हमे हर बात मे समाज से नही लडना चाहिए। किन्तु आपका समाज कैसा समाज है ? यदि गगोत्री मैली हो जाय तो क्या फिर गगा का पानी स्वच्छ रह सकता है ? आज के पच पच कहाँ रह गए ? पच तो गगोत्री है, और जैसे गगोत्री का पवित्र प्रवाह गगा मे बहता है, वैसे ही पच समाज को पवित्र प्रेरणा और न्यायबुद्धि देते है। किन्तु वर्तमान के पच तो राक्षसी प्रथा के पुजारी है। आज के पच पाखड से, स्वार्थ

से, क्रोध से और द्वेष से भरे हुए हैं। मेरी तो यह भविष्यवाणी है, आप इसे मानिये कि आज के पंचों का अन्याय हम नही मेट सके तो इस समाज का नाश हो जायगा। पच न्याय कहाँ करते हैं ? धर्म की वडी-वडी वाते वनाने से न्याय नही हो सकता। वर्तमान के पाखण्डी पचो से तो डरना भी अन्याय है। उनके जुल्म का सामना करके मरना ही अच्छा है। पच-गगोत्री मैली हो गई है। इसे शुद्ध करने के लिए हरएक को मर-मिटना चाहिए। यह धर्म के नाम पर पाप फैलाया जाता है। उसीका जमनालालजी सामना कर रहे है। उन्हे आप आशीर्वाद दे। आगे की पीढी तो कहेगी कि जमनालालजी ने धर्म को वचा लिया। लाखों अछूतों को हिन्दू-समाज मे रख लिया। रावण के दस सिर क्या थे,यह तो उसकी दस तरह की दुष्ट वुद्धि थी। उसी दुष्ट वुद्धि का सामना विभीपण ने किया।

"आप यदि सामना कर नही सकते, इतना साहस नहीं है, तो जमनालालजी आपको नही कहते कि आप भी उनके साथ चलें। जमनालालजी तो कहते है कि आप उनके साथ न चल सकें तो उन्हे छोड दें, किन्तु आप उनका मोह क्यो करते हैं ? उन्हे भी अग्रवाल-समाज के सुधार का मोह छोड़ देना चाहिए। जो सन्यासी हो गया, उसे कौन वाँधता है ! वह तो अव व्यापक समाज की सेवा ही कर सकते है। उसीमे अग्रवाल-समाज की भी सेवा आ जाती है। आप जमनालालजी को छोड दें, किन्तु उनके लिए प्रेम कायम रखें और पचायत के जो लोग विरोधी हैं, उनके प्रति भी विरोध न करें। हम क्रोध को अक्रोध से और अशान्ति को शान्ति से ही जीत सकते हैं। पंचायत के लोग क्रोध के पात्र नहीं हैं, दया के पात्र हैं। वे तो अवश्य ही समझते हैं कि

हम समाज का भला कर रहे है। उन्हे क्या पता कि वे धर्म के नाम पर जुल्म करना चाहते है ! इसलिए आप तो उनसे भी प्रेम करो और जमनालालजी को आशीर्वाद दो कि वह धर्म की रक्षा और अन्याय का सामना करने मे कृतकार्य हो।"

गाधीजी का वक्तव्य समाप्त होने पर सब लोग चुप हो गए। सन्नाटा-सा छा गया, किसीसे उत्तर देते नही बना। एक वृद्ध सज्जन ने चुपके से पगडी उतारकर गाधीजी के पैरो मे रख दी और कहने लगे, "महाराज, आपने जो कहा, उसे सुनकर तो मै गद्गद हो गया।" उस वृद्ध से अधिक कहते न बन पडा, किंतु पचों के त्रास से वह भी भयभीत था।

गाधीजी जब चर्खा चलाने बैठते है तो कातने की धुन मे इतने मस्त रहते है, मानो त्रिलोक का राज्य मिल गया हो, और किसी भी गहन-से-गहन विषय पर उनसे बाते कीजिये, उनके कातने मे कोई विघ्न नही पड़ता। असल मे तो एक ओर सूत का अपने-आप उनके हाथ की पूनी मे से निकलते जाना, दूसरी ओर उनकी अबाधित वचन-धारा का प्रवाह और साथ मे चर्खे का सगीत, यह हर भावुक का मन मोहने को पर्याप्त है। मै तो हर रोज उनके कातने के समय अपनी चक्की चलाने जा बैठता हूँ। एक दिन वही बछडे की कथा छिडी। मैने कहा, "महात्माजी, श्रीकृष्ण ने भी बछडा मारा था, किन्तु वह तो आलकारिक जमाना था, इसलिए बछडे का वत्सासुर हो गया। किन्तु इस बीसवी शताब्दी मे तो लोग सीधी-सादी भाषा मे ही बोलते है, इसलिए आपके इस काम ने काफी हलचल पैदा कर दी। आपने बहुत-से साहस किये, किन्तु इसमे तो हद हो गई। मुझे तो मालूम होता है, आपने इससे अधिक साहस का कोई और काम अपने

जीवन मे नही किया होगा।"

गाधीजी ने कहा, "ऐसी तो क्या बात है; मैने तो सबकुछ सहज भाव से ही किया है।"

"तो आपने ऐसा कौन-सा काम किया है, जिसे साहस की दृष्टि से आप अपने जीवन मे ऊचे-से-ऊँचा स्थान दे सके?" मैंने पूछा।

"इस दृष्टि से तो मैने कभी नही विचारा।" गाधीजी ने कहा, "किन्तु मै समझता हूँ कि बारडोली-सत्याग्रह स्थगित करके मैंने बहुत बडे साहस का परिचय दिया। चौबीस घण्टे पहले सरकार को चुनौती देकर ललकारना और फिर अचानक सत्याग्रह को स्थगित करना, यह अपने-आपको बेहद हास्यास्पद बनाना था; किन्तु मैं तनिक भी नही झिझका। जो सत्य था, वही मेरा राजमार्ग था और इसीलिए मेरी अपनी हँसी होगी, इस विचार ने मुझे कभी भयभीत नही किया। मेरे जीवन के बड़े साहसिक कामो मे यह एक था, ऐसा मै मान सकता हूँ।"

"सविनय आज्ञा-भग अचानक बन्द करना पडा, इसमे आपको क्लेश नही हुआ?"

"किचित् भी नही।" गाधीजी ने दृढता से कहा।

जिस सीता के लिए लाखो बन्दरो और राक्षसो के प्राण गये, उसे छोड देने मे राम को कुछ हिचकिचाहट न हुई। और जिस सविनय आज्ञा-भग के लिए हजारो लोगो को जेल-यातनाएँ मिली, उसे त्याग देने मे गांधीजी को कोई सकोच नही हुआ। त्रेता मे लोगो ने राम को बुरा-भला कहा होगा, कलि मे गाधीजी को लोगो ने खरी-खोटी सुनाई, किन्तु कौन कह सकता है कि गाधीजी ने जो किया वह ठीक न था! असल मे तो बडे

लोगो को समझने के लिए कुछ प्रयास की जरूरत पडती ही है। गाधीजी लगोटी मारकर रहते है, सस्ते-से-सस्ता खाना खाकर निर्वाह करते है, तो भी उस सबके नीचे छिपी हुई चमक 'कभी-कभी' लाखो मे चकाचौध मचा ही देती है। गाधीजी लगोटी मारकर गरीबो की तरह रहते है, इससे उनकी बुद्धि गरीब नही हो गई है। वस्तुस्थिति तो यह है कि बाज-बाज मौको पर गाधीजी के वचन और कर्म को ठीक-ठीक समझने के लिए मनुष्य को विशेप प्रयास की जरूरत पडती है। हम रोजमर्रा देखते है कि अख-बारवाले गाधीजी से वार्तालाप करके कुछ छाप देते है और पीछे गाधीजी को उसका खडन करना पडता है। कारण यह है कि गाधीजी को लोग ठीक-ठीक नही समझ सकते। गाधीजी 'अहिसा-अहिसा' पुकारते न कभी थके, न अब थकते है। अहिसा के तो मानो वह अवतार बन गए है। फिर भी बछडे की प्रख्यात हिसा करते न केवल उन्हे हिचकिचाहट नही हुई, उलटा उन्होने उसे धर्म माना। साधारण लोग सुनते ही हक्के-बक्के रह गए। किसीने आँसू बहाये, किसीने गालियाँ दी, किन्तु साबरमती के महात्मा पर उसका क्या असर हो सकता था! उन्हे तो लेना-देना है बस एक ही से। चर्खा चलाते है तो उसमे ईश्वरीय सगीत सुनते है। अलसी के तेल से मिली रोटी खाते है तो उसमे ईश्वरीय स्वाद का अनुभव करते है। दु ख मे, सुख मे, हँसने मे, रोने मे, जागने मे, सोने मे, फिरने मे अविच्छिन्न रूप से जो मनुष्य ईश्वर का अनु-भव करता है, उसे जगत् की क्या परवाह!

**संतन ढिग बैठि-बैठि लोक-लाज खोई,**
**अब तो बात फैल गई जाने सब कोई।**

यह गाधीजी का हाल है। जगत् से न उनको शर्म है, न जगत्

का भय है।

एक दिन मैंने पूछा, "महात्माजी, आपकी उत्तरोत्तर आत्मोन्नति हो रही है, ऐसा कुछ आपको अनुभव होता हे ?" शील-सकोच से गांधीजी ने कहा, "मेरा तो ऐसा खयाल है।" मैंने कहा, "महात्माजी, आपके इर्द-गिर्द की मण्डली क्या समझती है, मैं नही जानता, किन्तु मुझे तो ऐसा जान पडता है कि असहयोग-आन्दोलन के बाद आपकी आत्मा मे बहुत चमक आ गई है।" महात्माजी मौन रहे। शायद सोचा होगा, मेरा ऐसा कहना भी तो अनधिकार था। किसीकी आत्मा चढ रही है या गिर रही है, उसे पहचानने की भी तो लियाकत अधिकारी मे ही हो सकती है। एक बार लार्ड रीडिंग से गाधीजी की चर्चा चली थी, उसका मुझे स्मरण हो आया। गाधीजी उन दिनो जेल मे थे। देश के नेताओ का जिक्र छिडने पर मैंने कहा, "मेरी राय मे गाधीजी ससार मे सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति है।" वायसराय ने कहा, "हाँ, यह ठीक हो सकता था, यदि उनके सगी-साथी सब-के-सब ईमानदार होते।" मै वायसराय का मतलब समझ गया। यह कोई नही कह सकता कि असहयोग के दिनो मे गाधीजी की सारी-की-सारी मण्डली भली थी। किन्तु गाधीजी को इससे क्या ! मैंने उन दिनो एक बार कहा था, "महात्माजी, आपके इर्द-गिर्द के लोगो में कितने बुरे आदमी भी आ गए है।" गाधीजी ने कहा, "मुझे क्या डर है ? मुझे कोई धोखा नही दे सकता। जो मुझे धोखा देने मे अपने को दक्ष समझते है, वे स्वय अपने-आपको धोखा देते हैं। मै तो शैतान के पास भी रहने को तैयार हूँ, किन्तु शैतान मेरे पास कैसे रहेगा ? जो बुरे है, वे स्वय मुझे त्याग देंगे।" हुआ भी ऐसा ही। आज महात्माजी की मण्डली मे इने-गिने लोग बचे है।

शुरू से आजतक के उनके जीवन पर दृष्टिपात करे तो सारा चित्र आँखो के सामने नाचने लगता है। राजा ने छोडा, रौलट-ऐक्ट के जन्म के समय, प्रजा ने छोडा, बारडोली के निश्चय के समय। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, जैन, आर्यसमाजी, सनातनी, जात-पॉत, मित्र-स्नेही, सबने—किसीने कभी, किसीने कभी—महात्माजी को समय-समय पर छोड दिया। युधिष्ठिर स्वर्ग मे पहुँचे तो केवल एक कुत्ता साथ मे निभा। महात्माजी के स्वर्गारोहण तक कौन उनके साथ टिक सकेगा, यह भविष्य के गर्भ मे है। पर एक बात है, सबने एक-एक करके समय-समय पर गाधीजी को छोड दिया। पर फिर-फिरकर वही लोग गाधीजी से चिपटे ही रहते है। मैने एक दिन कहा, "महात्माजी, आप इतनी तेजी से दौड लगा रहे है, मै नही समझता, अन्त तक बहुत व्यक्ति आपके साथ रह सकते है।" गाधीजी ने कहा, "यह तो मैने बीस साल पहले ही सोच लिया था और मुझे तो इसीमे सुख है।" मैने कहा, "यदि प्राचीन समय होता और भारतवर्ष के बाहर आप पैदा हुए होते, तो इतनी तेजी की चाल लोग बर्दाश्त न करते। या तो ईसा की तरह आपको सूली पर चढना होता, अथवा सुकरात की तरह जहर का प्याला पिलाया जाता। किन्तु यह तो ऋषियो का देश है और बीसवी शताब्दी है, इसलिए लोगो ने आपकी महात्मापन की उपाधि छीनकर ही सन्तोष कर लिया है।"

गाधीजी ने हँसकर धीरे से कहा, "तो चढा दे लोग मुझे भी सूली पर। मै भी तैयार हूँ और प्रसन्नता के साथ तैयार हूँ।" पास बैठे लोगो ने लम्बी सॉस ली। मेरे तो मन मे आया कि इस मिश्रित धर्म से तो कही अन्धकार ही अच्छा है, जो अवतार को निकट ला देता है। आज न तो अधर्म का ह्रास ही होता है और

न अवतार ही आता है। यह दशा तो असहनीय है, किन्तु कोई क्या करे!

. . . . . .

गांधीजी के यहाँ त्याग का गुणगान रात-दिन रहता है। कम-से-कम कितने रुपयों में निर्वाह हो सकता है, इसीका प्रयोग होता रहता है। गांधीजी भी अलसी के तेल का प्रयोग इसलिए करते है कि जिससे जीवन-निर्वाह का खर्च कम-से-कम हो। उनके इस आचरण के कारण वातावरण ही ऐसा बन गया है कि उनकी मण्डली में जीवन-निर्वाह की आवश्यक-से-आवश्यक सामग्रियों का उपयोग करना भी गुनाह-सा हो गया है। सेठ जमनालालजी का चौका भी मिठाई से शून्य है। बेमसाले की स्वादहीन एक तर-कारी, मोटे टिक्कड, दूध-दही तो औषध के रूप में—यह रोजमर्रा की रसद है। किसी मोटे मरीज के लिए तो आश्रम का भोजन या जमनालालजी का चौका रामबाण औषध है। किन्तु हरिभाऊ उपाध्याय-जैसे अधमरे ब्राह्मण के लिए भी वहां वजन बढ़ाने की कोई गुंजाइश नहीं। किसी आश्रमवासी बालक या बालिका के चेहरे पर मैंने शारीरिक ओज के चिह्न नहीं पाये। संन्यासाश्रम का आदर्श भी यही था कि कम-से-कम खाओ, अधिक-से-अधिक उपजाओ, अर्थात् अल्प मात्रा में जीवन-निर्वाह कर अधिक-से-अधिक संसार की सेवा करो। यह स्वेच्छा का त्याग था। आश्रम-वासियों की भी यह स्वयं-निर्मित कैद है। किन्तु भारत के जन-साधारण को आश्रमवासियों से अधिक कहां मिलता है? भारत-वर्ष के प्रत्येक मनुष्य की आय का औसत गोखले ने दो रुपये माहवार निश्चित किया था। किसी किसीने इससे ज्यादा का अन्दाजा किया। किन्तु भारतवर्ष को सब्ज बाग दिखानेवाले

अग्रेज भी ४।। रु० माहवार से अधिक की आय नही साबित कर सके। भारतवासी की आय ४।। रु० और अग्रेज की ५७०रु० प्रतिमास ।

आश्रमवासी बेचारे कम-से-कम खर्च करके भी १५ रु० माहवार से कम मे गुजर नही कर सकते और भारत के दरिद्रनारायण ४।। रु० माहवार मे किसी तरह कीडे मकोडे का जीवन व्यतीत करते है। आश्रमवासियो ने तो अपने-आप अपने ऊपर कैद लगाई है, सुख को तिलाजलि दी है, देश के लिए फकीरी ली है, इसलिए हरिभाऊजी के अधमुए शरीर को देखकर तरस खाना बेकार है। किन्तु देश के जनसमुदाय ने कब सन्यास-दीक्षा ली थी, जो उनकी गरीबी को हम सन्तोष समझ बैठे है ? उनका सन्तोष क्या है, बुढिया का ब्रह्मचर्य है। उन्हे सन्तोष सिखाना उनकी गरीबी की निर्दय हँसी उडाना है। मैने गाधीजी से कहा, "महात्माजी, त्याग तो आपको और आपके चेलेचॉटियो को ही शोभा दे सकता है, किन्तु देश के असख्य दरिद्रो को त्याग की कौन-कौन-सी गुजाइश है ? वे तो पहले से ही आधा पेट भोजन करते हैं और फिर वे लोग समझ बैठे कि ४।। रु० माहवार या इससे भी कम मे निर्वाह करना ही हमारा कर्त्तव्य है, तो फिर स्वराज्य की भावना को प्रोत्साहन देना फिजूल है। स्वराज्य की भावना दो ही कारणो से देश मे पैदा हो सकती है—या तो धार्मिक असन्तोष के कारण, या आर्थिक वेदना के कारण । यूरोपीय देशो मे पेट की चिन्ता ने स्वराज्य की भावना को जाग्रत रखा। यहाँ धार्मिक असन्तोष ने समय-समय पर सुधर्मियो के राज्य की भावना को प्रोत्साहन दिया। किन्तु अग्रेजो ने न हमारे मन्दिर गिराये, न मुसलमानो की मस्जिदे तोडी। इसलिए स्वराज्य की भावना तो

तभी पैदा हो सकती है, जब हम यह महसूस करे कि हमारी आर्थिक हीनावस्था बिना स्वराज्य के नही सुधर सकती। किन्तु यदि इस दारिद्र्य को ही आदर्श माने तब तो फिर स्वराज्य के लिए कोई क्यो लडे ! इसलिए मेरी बुद्धि मे तो वहाँ यह अपने-आप धारण की हुई गरीबी आश्रमवासियो एव अन्य कार्यकर्त्ताओ के लिए भूपण है, जनता की बेबस ग़रीबी, गरीबो का और देश का दूपण है। उन्हे तो हम यह कहे कि तुम्हारे पास जीवन-निर्वाह की सामग्री स्वल्प है, उसको मर्यादा के भीतर बढाने का उद्योग करना तुम्हारा धर्म है।"

महात्माजी ने कहा, "मैं गरीबों से जीवन की आवश्यक सामगी घटाने को कहा कहता हूँ ? आज गरीब जितने मे निर्वाह करता है, वह तो हमारे लिए शरमाने की बात है। वर्तमान गरीबो का जीवन तो पशुओ का जीवन है। उनके सामने त्याग की बातें करना तो निर्दयता है। जिनके पास काफी सामगी है, या जो सेवा करना चाहते है, मै तो उन्हें ही गरीब बनने का उपदेश करता हूँ।"

मैने कहा, "आपका साहित्य पढने से तो कुछ भ्रम पैदा हो सकता है। आप अलसी के तेल पर निर्वाह करे और आपकी मण्डली आपका अनुकरण करे, तो फिर लोग शायद यह भी समझ सकते है कि देश का हर मनुष्य कम-से-कम खाकर जीये।"

गाधीजी ने कहा, "लेकिन मेरा यह साहित्य गरीबों के लिए थोड़े ही है। जब गरीब लोग पढे-लिखे होने लगेंगे और मेरा साहित्य पढने लगेंगे, तो शायद मुझे कुछ थोडा-सा फेरफार करना पड़े। किन्तु आज तो मै त्याग का गुणगान धनी या मध्यम वर्ग के लोगों के लिए ही करता हूँ। गरीबों को त्याग क्या सुझाऊँ, वे

तो परवशात् त्यागी वन बैठे है। उन्हे तो इससे अधिक की आवश्यकता है।"

मैने पूछा, "आपकी राय मे हर मनुष्य को खाने, पहनने और सुख से रहने के लिए कितने व्यय मे निर्वाह करना चाहिए ?"

गाधीजी ने कहा, "जितने मे सुखपूर्वक स्वस्थ रहते हुए निर्वाह कर सके।"

"यानी रोटी, दाल, भात, तरकारी, फल, घी, दूध, सूती-ऊनी कपडे, जूते ?"

गाधीजी ने कहा, "जूते की आवश्यकता मै इस देश मे नही समझता, शायद खडाऊँ की आवश्यकता हो। घी तो ज्यादा नही चाहिए।"

मैंने पूछा, "दन्तमजन, साबुन, ब्रश इत्यादि ?"

गाधीजी ने कहा, "अरे, इसकी कही आवश्यकता हो सकती है ?"

मैने पूछा, "घोडा ?"

सब लोग हँसने लगे।

मैंने फिर पूछा, "खैर, आपकी राय मे गरीब आदमी का बजट कितने रुपये का होना चाहिए ?" सौ रुपये माहवार से कम मे कैसे कोई सुखपूर्वक गुजर कर सकता है, यह तो मेरे जैसे मनुष्य की बुद्धि के बाहर की बात थी। इसलिए मैंने सौ रुपये का तखमीना रखा। हरिभाऊजी ने कहा, "मैने साधारण आदमी का बजट गढकर देखा था, पचास रुपये प्रतिमास काफी है।" महात्माजी को तो पचास रुपये भी ज्यादा जँचे। "पच्चीस रुपये माहवार तो काफी है।"—यह उन्होने अनुमान लगाया। मैने कहा, "यह तो असम्भव है।"

गाधीजी ने कहा "अच्छा, जो स्वास्थ्य के लिए चाहिए उतनी सामग्री का तखमीना कर लो। यदि पच्चीस रुपये से ज्यादा आता है तो भी मुझे क्या उज्र है! किन्तु मैं जानता हूँ कि पच्चीस रुपये माहवार हर मनुष्य को खाने को मिले तो यहा रामराज्य आ जाय।"

"और यदि किसी-किसीको पचास रुपये से ज्यादा मिल जाय तो?" मैने पूछा।

"ज्यादा मिल जाय तो उसका उपभोग करे," गाधीजी ने उत्तर दिया। "किन्तु वह तो फिजूलखर्ची है। ऐसे मनुष्यो को तो मै त्याग का ही उपदेश करूंगा।"

मैने पूछा, "महात्माजी, यदि प्रत्येक मनुष्य की आय दो सौ रुपये ओसत या इससे भी अधिक प्रतिमास हो जाय तो आपको क्या उज्र हो सकता है?"

महात्माजी ने आवेश के साथ कहा, "उज्र नही हो सकता है! उज्र तो हो ही सकता है। ससार मे प्रकृति जितना पैदा करती है, वह तो इतना ही है कि हर मनुष्य को आवश्यक वस्त्र और जीवन-निर्वाह की अन्य आवश्यक सामग्री सुखपूर्वक मिल जाय, किन्तु प्रकृति मनुष्य के अपव्यय के लिए हर्गिज पैदा नही करती। इसके मानी तो यह है कि यदि एक मनुष्य आवश्यकता से अधिक उपभोग कर लेता है तो दूसरे मनुष्य को भूखा रहना पड़ता है और इसलिए जो अधिक उपभोग करता है उसे मै लुटेरे की उपमा देता हूँ। इस हिसाब से पचास रुपये से अधिक जो अपने लिए खर्च करते है, वे लुटेरे है। इग्लैण्ड एक छोटा-सा देश है। वहाँ के साढे तीन करोड आदमियों के भोग-विलास के लिए आज सारा एशिया उजाड़ा जा रहा है। किन्तु भारत के बत्तीस करोड़ मनुष्य

यदि दो सौ माहवार या अधिक खाजाने का प्रयत्न करें तो ससार तवाह हो जाय। भगवान् वह दिन न लाये कि भारत के लोग अग्रेजो की तरह उपभोग करना सीखे। किन्तु यदि ऐसा हुआ तो ईश्वर ही रक्षा करेगा। साढे तीन करोड की भोग-पिपासा मिटाने मे तो यह देश मरा जा रहा है, बत्तीस करोड आदमियो के भोग की भूख मिटाने मे तो ससार को मरना होगा।"

मैने कहा, "महात्माजी, यदि पाँच सौ या सौ रुपये से अधिक खानेवालो को लुटेरे समझे तव तो मारवाडी, गुजराती, पारसी, चेट्टी इत्यादि सव लुटेरे है।"

महात्माजी ने गम्भीरता से कहा, "इसमे क्या शक है! वैश्यो के हितार्थ प्रायश्चित्त करने के लिए ही तो मैने वैश्यपन छोडा है।"

## ५ | उत्कल में पाँच दिन

जब गाधीजी ने उत्कल में पैदल पर्यटन शुरू किया तो सुना कि वे सवेरे-साँझ छाँह मे चलते है, आम्र-कुजों मे टिकते है, तारो-जडे आसमान के नीचे सोते है। खाने को खेतो से ताजा तरकारी मिलती है, आम तो ऊपर ही लटकते रहते है, तोड़ लिये और खा लिये। दूध सामने दुहा और पी लिया। गांधीजी के साथ कुछ दिन रहने का आनन्द और उसीके साथ ऊपर-नीचे, दाये-बाये, प्रकृति के सुहावने दृश्यो का यह मनमोहक विवरण किसके लिए लुभावना न होगा! आखिर मै भी पहुँच गया। पहुँचते ही देखता हूँ कि गाधीजी पाँच फुट लम्बी-चौड़ी एक तग कोठरी में बैठे लिख रहे है। एक लडका पंखा झल रहा है। बाहर छाया मे लोग दरियो पर इधर-उधर पडे है, कोई खा रहा है, कोई सो रहा है।

गाधीजी ने कहा, "अच्छे समय पर पहुँचे। कल रात तो वर्षा के मारे परेशानी रही। रात-भर कोई सोया नही। एक तंग कोठरी मे पच्चीस जनो ने बैठकर रात बिताई।" सुनते ही मेरा माथा ठनका। गाधीजी ने मेरी ओर इशारा करके एक भाई से कहा, "अच्छा, इनके खाने का क्या प्रबन्ध है?"

मैने कहा, "जी, दूध लिया करता हूँ।"

किसीने आहिस्ते से कहा, "दूध तो नही है।

अपनी परेशानी छिपाने के लिए मैने कहा, "कोई चिन्ता नही, आमो से काम चल जायगा।"

श्री मलकानीजी मेरे अज्ञान पर मुस्कराते हुए कहने लगे, "यहाँ आम कहाँ ?"

मैने साहस करते हुए कहा, "देख लेगे !"

"खा लेगे, ऐसा तो नही।" गाधीजी ने कहा, "अच्छा नहा तो लो !"

कुएँ पर गया। अन्दर झाँका तो पानी मे कीचड भरा था। ऐसा पानी पीने की तो कौन कहे, पाँव धोने मे भी सूग आती थी। किसी तरह साफ-सूफ करके पोखर की पाज पर दरी डालकर सो रहा। सोचा, खाने-पीने को नही मिलता तो न सही, सो तो ले। दो घण्टे बाद एक स्वयसेवक दो गाँवो मे 'हाँड' कर पाँच बकरियाँ दुहाकर आध सेर दूध लाया। उसे हसरतभरी निगाह से देखकर मै पी गया। पीने के बाद ही ध्यान आया कि न मालूम ये पाँच बकरियाँ कितने बच्चो का मन भरती। पेट तो आध सेर दूध से कितनो का क्या भरता ! फिर लम्बी साँस लेकर लेट रहा। बकिमबाबू ने भारतवर्ष की वन्दना मे इसे 'सुजला सुफला शस्यश्यामला' कहा है। उत्कल मे भी जल की कमी नही। सुफला भी है। भूमि उपजाऊ भी है, पर न 'सुखदा' है, न 'वरदा'। यहाँ बाढ खूब आती है। शान्तनु जैसे पुत्र पैदा करता था और गगा उन्हे बहा ले जाती थी, वैसे ही उडिया वोता है और बाढ सबकुछ बहाकर ले जाती है। जहाँ हम लोग बैठे थे, वहाँ बाढ आने पर पुरसो पानी चढ जायगा। खेती नष्ट हो जायगी। पशु मर जायँगे। घर से निकलना मुश्किल हो जायगा। बीमारी

फैल जायगी। लोग बेमौत मरेंगे। बाढ के चले जाने पर लोग थके-माँदे फिर खेती करेंगे। फिर झोपड़ियो की मरम्मत करेंगे और फिर बाढ से लडने की तैयारी में लगेंगे।

शायद बाढ़ की मार से उड़िया इतना शिथिल हो गया है कि अब उसमें उत्साह नही। शायद दु ख को भूलने के लिए ही उसने अफीम की लाग भी लगा ली है। उसकी आँखो में न तेज है, न हृदय मे उत्साह। बाढ-निवारण के लिए सरकार ने एक कमेटी बैठाई। उसने कुछ अच्छी अच्छी सिफ़ारिशें भी की, पचासो लाख का खर्च बताते है। यदि इन सिफारिशों पर चला जाय तो उडिये के जीवन मे एक नई स्फूर्ति आ जाय, एक नई आशा पैदा हो जाय। पर फुर्सत किसे है? बाढ-निवारण कमेटी की जाँच-रिपोर्ट आज सरकारी अलमारियों की शोभा बढा रही है। सुना, सिफारिशो को अमल मे लाने से कुछ जमीदारों की भी क्षति है, इसलिए भी आगे बढ़ने में रुकावट है। मध्यप्रान्त से पानी चलता है, जो उत्कल मे आकर बाढ उत्पन्न करता है। रेल न थी, तब पानी सीधा समुद्र में जा गिरता था। अब रेल और नहरो के बनने के बाद उसकी पाज के कारण पानी को रुकावट मिल गई है, ऐसा इस विषय के विशेषज्ञ लोग कहते हैं। दु:खी, दरिद्र, दीन उत्कल की यह करुण कहानी किसका दिल नही दहला देगी! यमलोक में पहुँचने के लिए वैतरणी नदी पार करनी पड़ती है। उत्कल मे भी वैतरणी नदी है, मानो यह नाम उत्कल और यमलोक का सादृश्य दिखाने के लिए ही किसीने रखा हो। फर्क इतना ही है कि यमलोक में भूख नहीं लगती, उत्कल में लगती है।

ऐसे प्रदेश में गांधीजी क्या आये, मानो भगवान् ही आ

गए। उत्कल में गोपबाबू का, मेहताबबाबू का, जीवरामभाई का अलग-अलग आश्रम है। गाधी-सेवाश्रम नाम का एक और आश्रम है। ये सभी आश्रम उडीसा की सेवा मे रत है। जैसे हाथी की खोज मे सभी खोज समा जाती है, वैसे ही बाढो मे जितनी सस्थाएँ सेवा के लिए उत्कल मे पहुँचती है, उनके बारे मे उड़िया यही समझता है कि ये गाधीजी के ही आदमी है। अब तो गाधीजी स्वयं आ गए, इसलिए उडिये के हर्ष का क्या ठिकाना ! उडिया समझता है, अब दुख दूर होगा। इसलिए गांधीजी के सामने कीर्तन करता है, नाचता है, स्त्रियाँ ऊलू-ध्वनि करती है। दो-दो हजार आदमी साथ में चलते है, प्रार्थना मे हजारो मनुष्य आते है और बडे जतन से ताँबे के टुकडे, पैसे-अधेले-पाई लाते है, जो गाधीजी के चरणो मे रख जाते है। **भोजने यत्र सन्देहो धनाशा तत्र कीदृशी।** पर उडिया भूखा है तो भी गाधीजी को देता है। बीस-बीस कोस से चलकर आने-वाले नरककाल का धोती की सात गाठो मे से सावधानीपूर्वक एक पैसा निकालकर गाधीजी के चरणो मे रख देने का दृश्य सचमुच रुलानेवाला होता है।

वर्षा आरम्भ होते ही पैदल यात्रा में रुकावटे आने लगी। गाँवो मे झोपडियो की तो वैसे ही कमी रहती है और गाधीजी का दल ठहरा सौ-डेढ सौ आदमियो का। जबतक वर्षा न थी, तबतक तो आकाश के नीचे सो लेते थे। अब झोपड़ियो की जरू-रत पडने लगी और रात को कष्ट होने लगा। कीड़े-मकोड़े, कानखजूरे बुरी तरह लोगो के विस्तरो पर चक्कर काटने लगे। एक दिन डेरे के पास ही बडे-बड़े चार साँप भी देखने मे आये। रात को ओस के मारे सबके कपडे भीग जाते थे। लोगो के

बीमार होने की आशका होने लगी, किंतु गान्धीजी के वातावरण मे किसीको फिक्र न थी। मुझे लगा, मैं गांधीजी से कहूँ कि यदि वर्षा मे यह दौरा जारी रहा तो मण्डली मे वीमारी फैल जाने की आशका है।

भद्रक से जब हम लोग बारह मील की दूरी पर एक गाँव मे पडाव डाले पडे थे, मैंने इसकी चर्चा छेडी। गांधीजी को बात जँची। कहने लगे, "अच्छा, तो कल एक ही मजिल मे हम भद्रक पहुँच जायँगे।"

मेरे लिए तो एक मजिल मे बारह मील तय करना कठिन काम था। इसीलिए मैंने मोटर से जाना निश्चित किया। गाधीजी अपने दल के साथ मुझसे अढाई घण्टा पूर्व चले और यद्यपि मैं मोटर से चला तो भी गाधीजी मुझसे आध घण्टे पहले ही भद्रक-आश्रम मे पहुँच गए। रास्ते मे लोगो से पूछने पर पता चला कि गाधीजी बड़ी तेजी से चलते जा रहे थे और उनको पकड़ने के लिए उनके साथवालों को उनके पीछे-पीछे दौड़ना पड़ रहा था। पैंसठ वर्ष की अवस्था मे गांधीजी की यह शारीरिक शक्ति अवश्य चित्त प्रसन्न करती है। इसका रहस्य उनका संयमी जीवन है। दिन-भर मे करीब एक सेर दूध और दो छटांक शहद, उबली हुई तरकारी और कुछ आम—यह उनका सारा भोजन है। रात को आमतौर से वह दो-तीन बजे नींद से उठ जाते हैं और जब संसार सोता है तब वह जागते हुए काम करते रहते हैं। इतना शारीरिक परिश्रम इस उम्र मे अवश्य ही अद्भुत चीज है। जब इतनी फुरती के साथ गाधीजी को बारह मील की मजिल तय करते देखा, तो मैंने मन-ही-मन मिन्नत की कि भगवान् हमारे भले के लिए उन्हे लम्बी उम्र दे। जो लोग

गाधीजी के स्वास्थ्य के सम्बन्ध मे कुछ जानना चाहते हो, वे जान ले कि इन वर्षो मे गाधीजी को मैने इतना स्वस्थ कभी नही देखा। देश के लिए यह सौभाग्य की बात है।

उत्कल के सेवको के विषय मे कुछ लिखना आवश्यक है। इनमे गोपबन्धु चौधरी और श्री जीवरामभाई, दो के नाम विशेप उल्लेखनीय है। दोनो मानो सेवा के साक्षात् अवतार है। गोपबन्धु तो असल वैष्णव है। **परदुःखे उपकार करे, तोये मन अभिमान न आणे रे।** वह अपने जमाने मे डिपुटी कलेक्टरी कर चुके, किन्तु सेवा के लिए सबकुछ छोड दिया। अभिमान तो मानो इनको छू नही गया। जीवरामभाई का यह हाल है कि लाखो रुपये छोडकर सेवक बने। हम लोग जब सो जाते थे, तब यह रात को अकेले डेढ सौ आदमियो का पाखाना साफ करते थे।

इस यात्रा मे हास्य-रस की भी कमी नही थी। मि० ब्यूटो (Buto) एक जर्मन युवक है, जो यात्रा मे गाधीजी के साथ घूमते थे। गॉव मे खाने की योही कमी थी। मि० ब्यूटो हट्टे-कट्टे जवान और बचपन से मास पर पले हुए। इसीलिए अध-भूखे रहते थे, पर अत्यन्त प्रसन्न। एक तहमद पहनकर फिरते थे। जवान तो है ही, मूँछे अभी आई नही। गॉववाले पडाव के चारो तरफ सैकडो की सख्या मे सुबह से शाम तक झॉकते रहते थे कि उन्हे गाधीजी का दर्शन हो जाय। इस बीच तरह-तरह की चर्चा करते थे। एक ने ब्यूटो की तरफ अगुली उठाकर कहा कि मीरा वहन यही है। सबको हॅसी आ गई। कोई कहता, जवाहरलाल भी साथ आया है। गांधीजी कौन-से है, यह भी दर्शको के लिए पहेली थी। एक ने मीरा वहन को देखकर कहा—

यही गांधीजी है। दूसरे ने किसी अन्य की ओर इशारा करके कहा--नही, गांधीजी यह हैं। तीसरे ने कहा--नही, गांधीजी तो महात्मा है। वह सबको दिखाई नही देते।

गाधीजी के दल के लिए ऐसी-ऐसी बातें रसायन का-सा काम देती रहती थी। किसीने बताया कि मीरा बहन एक मर्तबा जनाने डिब्बे मे यात्रा कर रही थी। इतने मे टिकट-कलक्टर टिकट देखने आया। मीरा बहन का सिर तो मुडा हुआ है ही। टिकट-कलक्टर आया, उस समय ओढनी सिर पर से उतर गई थी। टिकट-कलक्टर ने समझा कि यह पुरुष है और कहने लगा —"आपको पता है, यह जनाना डिब्बा है?" मीरा बहन ने तुरन्त ओढनी सिर पर खीची। टिकट-कलक्टर बेचारा झेंपकर चलता बना। हम लोगो ने यह कहानी सुनी तो हँसते-हँसते आँखो मे आँसू आ गए।

उत्कल की यह यात्रा हँसी और रुलाई का एक अद्भुत सम्मिश्रण थी।

२२ जून, १९३८

## ६ | गांधीजी : मानव के रूप में

गाधीजी का और मेरा प्रथम सम्पर्क १९१५ के जाडो मे हुआ। वे दक्षिण अफ्रीका से नये-नये ही आये थे और हम लोगो ने उनका एक बृहत् स्वागत करने का आयोजन किया था। मै उस समय केवल बाईस साल का था। गाधीजी की उस समय की शक्ल यह थी सिर पर काठियावाडी साफा, एक लम्बा अँगरखा, गुजराती ढग की धोती और पॉव बिलकुल नंगे। वह तस्वीर आज भी मेरी आँखो के सामने ज्यो-की-त्यो नाचती है। हमने कई जगह उनका स्वागत किया। उनके वोलने का ढग, भाषा और भाव बिल्कुल ही अनोखे मालूम दिये। न वोलने मे जोश, न कोई अतिशयोक्ति, न कोई नमक-मिर्च, सीधी-सादी भाषा।

१९१५ मे जो सम्पर्क बना, वह अन्त तक चलता ही रहा और इस तरह बत्तीस साल का गाधीजी के साथ का यह अमूल्य सम्पर्क मुझ पर एक पवित्र छाप छोड गया है, जो मुझे सदा स्मरण रहेगा। उनका सत्य, उनका सीधापन, उनकी अहिसा, उनका शिष्टाचार, उनकी आत्मीयता, उनकी व्यवहार-कुशलता, इन सब चीजो का मुझपर दिन-प्रतिदिन असर पडता गया और धीरे-धीरे मै उनका भक्त बन गया। जब समालोचक था तब भी मेरी उनमे श्रद्धा थी, जब भक्त बना तो श्रद्धा और भी बढ गई। ईश्वर की दया है कि बत्तीस साल का मेरा और एक महान्

आत्मा का सम्पर्क अन्त तक निभ गया। मेरा यह सद्भाग्य है।

गांधीजी को मैने सन्त के रूप मे देखा, राजनैतिक नेता के रूप मे देखा और मनुष्य के रूप मे भी देखा। मेरा यह भी ख़याल है कि अधिक लोग उन्हे सन्त या नेता के रूप मे ही पहचानते है। लेकिन जिस रूप ने मुझे मोहित किया वह तो उनका एक मनुष्य का रूप था—न नेता का, न सन्त का। उनकी मृत्यु पर अनेक लोगो ने उनकी दु.ख-गाथाएँ गाई है और उनके अद्भुत गुणो का वर्णन किया है। मै उनके क्या गुण गाऊँ! पर वे किस तरह के मनुष्य थे, यह मै बता सकता हूँ।

मनुष्य क्या थे, वे कमाल के आदमी थे। राजनैतिक नेता की हैसियत से वे अत्यन्त व्यवहार-कुशल तो थे ही। किसी से मैत्री बना लेना, यह उनके लिए चन्द मिनटों का काम था। द्वितीय गोलमेज़ कान्फ्रेंस मे जब वे इंग्लैंड गये थे तब उनके कट्टर दुश्मन सैम्युअल होर से मैत्री हुई तो इतनी कि अन्त तक दोनो मित्र रहे। लिनलिथगो से उनकी न निभी, पर इसमे दोष सारा लिनलिथगो का ही था; गाधीजी ने मैत्री रखने मे कोई कसर न रखी थी। जिनसे गांधीजी मैत्री रखते, छोटी चीजों मे वे उनके गुलाम बन जाते थे। पर जहाँ सिद्धान्त की बात आती, वहाँ डटकर लडाई होती थी। लेकिन उसमे भी वे कटुता नही लाते थे। लन्दन में जितने रोज रहे, बिना सैम्युअल होर की आज्ञा के कोई वक्तव्य या व्याख्यान देना उन्होने स्वीकार नही किया। लिनलिथगो मे भी कई बातो मे ऐसा ही सम्बन्ध था।

निर्णय करने में वे न केवल दक्ष थे, वरन् साहसी भी थे। चौरीचौरा के कांड को लेकर सत्याग्रह का स्थगित करना और हिमालय-जितनी अपनी बडी भूल मान लेना, इसमे काफी साहस

की जरूरत थी। सत्याग्रह स्थगित करने पर वे लोगो के रोष के शिकार बने, गालियाँ खाई, मित्रो को काफी निराश किया, पर अपना दृढ निश्चय उन्होने नही छोडा। १६३७ मे काग्रेस ने जब गवर्नमेट बनाना स्वीकार किया तब गाधीजी के निर्णय से ही प्रभावित होकर काग्रेस ने ऐसा किया। गाधीजी ने जहाँ कदम वढाया, सब पीछे चल पडे। काग्रेस-नायक मे उस समय झिझक थी, वे शंकाशील थे। १६४२ मे, जब क्रिप्स आये, तब हाल इसके विपरीत था। काग्रेस के कुछ नेता चाहते थे कि क्रिप्स की सलाह मान ली जाय और क्रिप्स-प्रस्ताव स्वीकार किया जाय, पर गाधीजी टस-से-मस न हुए, बल्कि उन्होने 'हिन्दुस्तान छोडो' की धुन छेडी और लड पडे। इस समय भी उन्होने निर्णय करने मे काफी साहस का परिचय दिया।

मुझे याद आता है कि राजनीति मे उस समय करीब-करीब सन्नाटा था। लोगो मे एक तरह की थकान थी, नेताओ मे प्राय एकमत था कि जनता लडने के लिए उत्सुक नही।

विहार से एक नेता आये। गाधीजी ने उनसे पूछा, "जनता मे क्या हाल है ? क्या जनता लडने को तैयार है ?" बिहारी नेता ने कहा, "जनता मे कोई तैयारी नही है, कोई उत्साह नही है।" पीछे रुककर उन्होने कहा कि मुझे एक कथा स्मरण आती है। एक मर्तबा नारद विष्णु के पास गये। विष्णु ने नारद से पूछा, "नारद, ज्योतिप के अनुसार वर्षा का कोई ढग दीखता है ?" नारद ने पचाग देखकर कहा कि वर्पा होने की कोई सभावना नही है। नारद ने इतना कहा तो सही, पर विष्णु के घर से वाहर निकले तो वर्षा से सुरक्षित होने के लिए अपनी कमली ओढ ली। विष्णु ने पूछा, "नारद, कम्बल क्यो ओढते हो ?" नारद ने कहा,

"मैंने ज्योतिष की बात बताई है, पर आपकी इच्छा क्या है, यह तो मैं नही जानता। अन्त मे जो आप चाहेंगे, वही होनेवाला है।" इतना कहकर उन बिहारी नेता ने कहा, "बापू, जनता मे तो कोई जान नही है, पर आप चाहेगे तो जान भी आ ही जायगी।" यह बिहारी नेता थे सत्यनारायणबाबू। जो उन्होंने सोचा था, वही हुआ। जनता मे लड़ने की कोई उत्सुकता न थी, पर बिगुल बजते ही लड़ाई ठनी तो ऐसी कि अत्यन्त भयंकर।

पर यह तो मैंने उनकी नेतागिरी और राजकौशल की बात बताई। इतने महान् होते हुए भी किस तरह छोटो की भी उन्हे चिन्ता थी, यह आत्मीयता उनकी देखनेलायक थी। यही चीज उनके पास एक ऐसे रूप मे थी कि जिसके कारण लोग उनके बेदाम के गुलाम बन जाते थे। उनके पास रहनेवाले को यह डर रहता था कि बापू किसी भी कारण अप्रसन्न न हो; और यह भय इसलिए नही था कि वे महान् व्यक्ति थे, वरन् इसलिए कि मनुष्य मे जो सहृदयता और आत्मीयता होनी चाहिए, वह उनमें कूट-कूटकर भरी थी।

बहुत वर्षो की बात है। करीब बाईस साल हो गए। जाड़े का मौसम था। कड़ाके का जाड़ा पड रहा था। गाधीजी दिल्ली आये थे। उनकी गाड़ी सुबह चार बजे स्टेशन पर पहुँची। मै उन्हे लेने गया। पता चला कि एक घंटे बाद ही जानेवाली गाड़ी से वे अहमदाबाद जा रहे है। उनके गाड़ी से उतरते ही मैंने पूछा, "एक दिन ठहरकर नही जा सकते?" उन्होने कहा, "क्यो? मुझे जाना आवश्यक है।" मै निराश हो गया। उन्होंने फिर पूछा, "क्यो?" मैंने कहा, "घर मे कोई बीमार है। मृत्यु-शय्या पर है। आपके दर्शन करना चाहती है।" गांधीजी ने कहा, "मै अभी

चलूँगा।" मैने कहा, "मै इस जाडे मे ले जाकर आपको कष्ट नही दे सकता।" उन दिनो मोटरे भी खुली होती थी। जाडा और ऊपर से जोर की हवा, पर उनके आग्रह के बाद मै लाचार हो गया। मै उन्हे ले गया, दिल्ली से कोई पन्द्रह मील की दूरी पर। वहाँ उन्होने रोगी से बात कर उसे सान्त्वना दे दिल्ली-कैंटूनमेंट पर अपनी गाडी पकड ली। मुझे आश्चर्य हुआ कि इतना बडा व्यक्ति मेरी जरा-सी प्रार्थना पर सुबह के कडाके के जाडे मे इतना परिश्रम कर सकता है और कष्ट उठा सकता है! पर यह उनकी आत्मीयता थी, जो लोगो को पानी-पानी कर देती थी। मृत्यु-शय्या पर सोनेवाली यह मेरी धर्मपत्नी थी।

परचुरे शास्त्री एक साधारण ब्राह्मण थे। उन्हे कुष्ठ था। उनको गाधीजी ने अपने आश्रम मे रखा सो तो रखा, पर रोजमर्रा उनकी तेल की मालिश भी स्वय अपने हाथो करते थे। लोगों को डर था कि कही कुष्ठ गाधीजी को न लग जाय। पर गाधीजी को इसका कोई भय न था। उनको ऐसी चीजो से अत्यन्त सुख मिलता था।

'४२ के शुरू मे मै वर्धा गया। कुछ दिन बाद उन्होने मुझसे कहा, "तुम्हारा स्वास्थ्य गिरा मालूम होता है। इसलिए मेरे पास सेवाग्राम आ जाओ और यहाँ कुछ दिन रहो। मै तुम्हारा उपचार करना चाहता हूँ।" मैने कहा, "वर्धा ठीक है। सेवाग्राम मे क्यो आपको कष्ट दूँ?" मुझे सकोच तो यह था कि सेवाग्राम मे पाखाना साफ करने के लिए कोई मेहतर नही होता। वहाँ पर टट्टी की सफाई आश्रम के लोग करते हैं। जहाँ मुझे ठहराना निश्चित किया गया था, वहाँ की टट्टी महादेव भाई साफ किया करते थे। मैने उन्हे अपना सकोच बताया कि क्यो मै

सेवाग्राम नही आना चाहता था। मै स्वयं अपनी टट्टी साफ नही कर सकता और यह वर्दाश्त नही कर सकता कि महादेव भाई-जैसा विद्वान् और तपस्वी ब्राह्मण उस काम को करे। गाधीजी को मेरा सकोच निरा वहम लगा। पाखाना उठाना क्या कोई नीच काम है ? महादेव भाई ने भी मजाक किया, परन्तु मेरे आग्रह पर मेहतर रखना स्वीकार कर लिया गया। आगाखाँ-महल मे जब उनका उपवास चलता था तो मै गया। बड़े बेचैन थे। वोलने की शक्ति करीव-क़रीव नही के वरावर थी। मैंने सोचा कि कुछ राजनैतिक वातें करूँगा, पर आश्चर्य हुआ। पहुँ-चते ही हम सवकी कुशल-मगल, छोटे-मोटे वच्चो के वारे मे सवाल और घर-गृहस्थी की वाते। इसीमे काफी समय लगा दिया। मै उनको रोकता जाता था कि आपमें शक्ति नही है, मत वोलिये, पर उनको इसकी कोई परवाह नही थी।

इस तरह की उनकी आत्मीयता थी, जिसने हजारों को उनका दास वनाया। नेता वहुत देखे, सन्त भी वहुत देखे, मनुष्य भी देखे, पर एक ही मनुष्य मे सन्त, नेता और मनुष्य की ऊँचे दर्जे की आत्मीयता मैंने और कही नही देखी। मैं अगर गाधीजी का कायल हुआ तो उनकी आत्मीयता का। यह सवक है, जो हर मनुष्य के सीखने के लायक है। यह एक मिठास है, जो कम लोगो मे पाई जाती है।

गाधीजी करीव पौने पाँच महीने इस मर्तवा हमारे घर मे रहे। जैसा कि उनका नियम था, उनके साथ एक वड़ी वरात आती थी। नये-नये लोग आते थे और पुराने जाते थे। भीड़ वनी रहती थी। घर तो उनके ही सुपुर्द था। कितने मेहमान उनके ऐसे भी आते थे, जो मुझे पसन्द नही थे, जो उनके पासवालों को भी

पसन्द नही थे। बम गिरने के बाद बहुतो ने उन्हे बेरोक-टोक भीड मे घुस जाने से मना किया। सरदार वल्लभभाई पटेल ने उनके लिए करीब तीस मिलिटरी पुलिस और पन्द्रह-बीस खुफिया बिडला-भवन मे तैनात कर रखे थे, जो भीड मे इधर-उधर फिरते रहते थे, पर मै जानता था, इस तरह से उनकी रक्षा हो ही नही सकती। जो लोग आते थे उनकी झडती लेने का विचार पुलिस ने किया, मगर गाधीजी ने रोक दिया। हर सवाल का एक ही जवाब उनके पास था—"मेरा रक्षक तो राम है।"

उपवास के बाद उनका हाजमा बिगडा। मैने कहा, "कुछ दवा लीजिये।" फिर वही उत्तर—"मेरा वैद्य राम है।" "मेरी दवा राम है।" कुछ अदरक, नीबू, घृतकुमारी का रस, नमक और हीग साथ मिलाकर उनको देना निश्चय किया। आग्रह के बाद साधारण खान-पान की चीज समझकर उन्होने इसे लेना स्वीकार किया। पर वह भी कितने दिन! अन्त मे तो राम ही उन्हे अपने मन्दिर मे ले गए।

उनके अन्तिम उपवास ने उनके निकटस्थ लोगो मे काफी चिन्ता पैदा की। उपवास के समय मैने काफी बहस की। मैने कहा, "मेरा आपका बत्तीस साल का सम्पर्क है। आपके अनेक उपवासो मे मै आपके पास रहा हूँ। मुझे लगता है कि आपका यह उपवास सही नही है।" पर गाधीजी अटल थे। यह कहना भी गलत है कि गाधीजी आसपास के लोगो से प्रभावित नही होते थे। बुद्धि का द्वार उनका सदा खुला रहता था। बहस करनेवाले को प्रोत्साहन देते थे, और उसमे जो सार होता उसे ले लेते थे, चाहे वह कितने ही छोटे व्यक्ति से क्यो न मिलता हो। बार-बार बहस करते-करते मुझे लगा कि उनके उपवास के टूटने के

लिए काफी सामग्री पैदा हो गई है। मुझे बंबई जाना था। जरूरी काम था। मैंने उनसे कहा, "मैं बंबई जाना चाहता हूँ। मुझे लगता है कि अब आपका उपवास टूटेगा, न टूटनेवाला हो तो न जाऊँ।" मैंने यह प्रश्न जान-बूझकर टटोलने के लिए किया। उन्होंने मजाक शुरू किया। कहा, "जब तुम्हे लगता है कि उपवास का अन्त होगा तो फिर जाने में क्या रुकावट है ? अवश्य जाओ, मुझसे क्या पूछना है ?" मैंने कहा, "मुझे तो उपवास का अन्त आया लगता है, पर आपको लगता है या नही, यह कहिये।" उन्होने मज़ाक जारी रखा और साफ उत्तर न देकर फंदे में फंसने से इन्कार किया। मैंने कहा, "नचिकेता यम के घर पर भूखा रहा तो यम को क्लेश हुआ; क्योंकि ब्राह्मण घर मे भूखा रहे तो पाप लगता है। आप यहाँ उपवास करते है तो मुझपर पाप चढता है। इस-लिए अब इसका अन्त होना चाहिए।" गाधीजी ने कहा, "मैं कहाँ बाह्मण हूँ !" "पर आप तो महाब्राह्मण हे।" इसपर बड़ा मजाक रहा। मैंने कहा, "अच्छा, आप यह आशीर्वाद दीजिये कि मैं शीघ्र से-शीघ्र आपके उपवास टूटने की खबर बंबई में सुनूँ।" फिर भी उनका मजाक तो जारी ही रहा। मैंने कहा, "अच्छा, यह बताइये कि आप ज़िन्दा रहना चाहते है या नही ?" उन्होंने कहा, "हाँ, यह कह सकता हूँ कि मैं जिन्दा रहना चाहता हूँ। बाकी तो मैं राम के हाथ में हूँ।" उपवास तो समाप्त हुआ, लेकिन राम ने उन्हें छोड़ा नहीं।

एक दीपक बुझ गया, पर हमारे लिए रोशनी छोड़ गया।

७

# सबसे निराले

पडितजी को दूर से तो मै वैसे कई सालो से देखता आ रहा था, पर पहले-पहल मेरी मुलाकात उनसे १९२४ मे हुई। गाधीजी अपने अपेडिक्स के ऑपरेशन के बाद जेल से छूटकर आये थे और स्वास्थ्य-लाभ के लिए जुहू मे ठहरे हुए थे। एक रोज मै गाधीजी से मिलने को जुहू गया, तो बातो-ही-बातो मे उन्होने मुझसे पूछा, "क्या जवाहरलाल को जानते हो ?" "दूर से ही देखा है, कभी मिला नही हूँ।" मैने कहा। "तो मिल लो और मैत्री करने की कोशिश करो !" मै गाधीजी के पास से उठकर पडितजी के पास गया। वह बरामदे मे एक कोने मे बैठे थे। वह दृश्य मुझे स्पष्ट याद है। उनके चेहरे पर ताजगी थी, सौन्दर्य था और जवानी थी। मुझे ऐसा भी स्मरण है कि उनके हाथ मे गीता की पुस्तक थी, जिसका वह अध्ययन कर रहे थे। उस समय जो पहली छाप मुझपर पडी, उससे मुझे लगा कि मै उनके हृदय मे शायद ही कभी प्रवेश कर सकूँ।

मै स्वनामधन्य पडित मोतीलालजी के पास काफी उठा-बैठा हूँ। लाला लाजपतराय और पडित मालवीयजी की भी सेवा मैने की। बापू के चरणो मे बत्तीस साल तक रहा। पर पडित जवाहरलालजी मुझे इन सबसे निराले दीखे है। मालवीयजी एक निर्मल जल के सरोवर-जैसे लगते थे, जिसमे प्रवेश करने मे मुझे

कभी झिझक नही होती थी। बापू ऐसे लगते थे, जैसे गंगा की पवित्र धारा। इसमे स्नान करने से सुख और शान्ति मिलती थी और पाप और परिताप से मुक्ति मिलती थी। इन दोनों ही जलो मे गोता लगाना मुझे आसान मालूम देता था। पर पडितजी मेरी दृष्टि मे सदा एक अगाध समुद्र रहे है, जो विशाल है, वृहत् है, अपनी ओर खीचता है, अपने लिए श्रद्धा पैदा करता है, और प्रभावान्वित भी करता है, पर जिसका अवगाहन भयप्रद है।

सन् १९२४ के वाद पडितजी के काफ़ी परिचय में आया। उनका काफी अध्ययन किया। उनके साहित्य को पढा। पर मैं नही कह सकता कि मै आज भी उन्हे जान पाया हूँ। पंडितजी मेरे लिए सदा ही समुद्र की तरह **'अनवधारणीयमीदृक्तया रूपमियत्तया वा'** रहे है।

एक वार मैंने स्वर्गीय महादेव भाई देसाई से पूछा था, "महादेव भाई, जवाहरलालजी को जानते हो ? जानते हो तो बताओ वे क्या है ?" उन्होने कहा, "जवाहर ग्रीक फिलास्फर है। वह सौन्दर्य का उपासक है। वह कभी सौन्दर्यहीन काम नही कर सकता।"

गोल्डस्मिथ ने कहा है—"सुन्दर वह है जो सुन्दर करता है।" सम्भव है, महादेव भाई का तात्पर्य 'सत्यं सुन्दरम्' से रहा हो। जो सुन्दर है, वह सत्य भी होना चाहिए, कल्याणकारी भी होना चाहिए।

मैंने समालोचक बनकर पंडितजी का अध्ययन किया है और मुझे लगता है, पंडितजी के सम्बन्ध मे महादेव भाई का निरूपण अक्षरश: सही है। पडितजी चाहे एक क्षण के लिए आवेग में आ

जायँ, पर उन्हे उनकी न्याय-बुद्धि कभी नही छोडती। एक विशिष्ट पुरुष ने मुझसे एक मर्तबा कहा था, "जवाहरलाल क्रातिकारी नही, एक उच्चकोटि का लिबरल है, जो हर चीज के दोनो पहलुओ को मद्देनजर रखकर निर्णय करता है और कभी-कभी दोनो पहलुओ को इतना तौलता और मापता है कि स्पष्ट निर्णय मे भी कठिनाई पाता है।" इन सब वर्णनो के बाद मुझे आश्चर्य नही हुआ, जब गाधीजी ने अपनी मृत्यु के कुछ ही दिन पहले मुझसे एक बार कहा, "जवाहर विचारक है, सरदार कारक है।"

पंडितजी के भीतर जो मथन और सघर्ष चलता रहता है, उसकी छाप हर बारीकी से अध्ययन करनेवाले पर पडे बिना नही रहती। हर चीज के स्पष्ट निर्णय मे जो एक विचारक को कठिनाई पडती है, उसका आभास उसकी भाव-भगी से मिलता है। पडितजी हँसते है तो भी एक तरह की उदासी उनके चेहरे पर से कभी नही हटती। दिलीप के बारे मे कालिदास ने कहा है कि उसमे **वृद्धत्वं जरसा विना** था। पडितजी मे **वृद्धत्व जरसा विना** और **विना बाल्येन चापल्यं** दोनो है। नम्रता है तो आवेश भी है। उत्साह है तो थकान भी है। दिल गरीब है तो तबीयत रईसाना भी है। हठ है, पर समन्वय है। बहादुर है तो लोकमत के सामने झुकते हैं। कुशाग्रबुद्धि है, पर उनमे सीधापन भी है। यह सब द्वन्द्व इस तरह से भीतर सग्राम करते है कि इसका प्रतिबिंब पडितजी के चेहरे पर आ ही पडता है।

साधारण मान्यता है कि पडितजी को धर्म मे कोई श्रद्धा नही है, न उन्हे ईश्वर मान्य है। कभी-कभी पंडितजी के सार्वजनिक उद्गारो से इस कथन का समर्थन भी होता है। पर इसमे भीमतभेद की काफी गुजाइश लगती है। धर्म क्या है और ईश्वर

क्या है, इसकी सम्पूर्ण व्याख्या के बाद ही यह निर्णय हो सकता है कि पंडितजी के ईश्वर-सम्बन्धी मन्तव्य क्या हैं। पर गांधीजी इस कथन का भी विरोध करते थे। बहस में एक बार उन्होंने मुझसे कहा, "जवाहर नास्तिक नहीं है। जो मनुष्य कहता है, आजादी अवश्य मिलेगी, उसके इस कथन का आधार विज्ञान नहीं, श्रद्धा है। और श्रद्धा आस्तिकता का प्रदर्शन है, नास्तिकता का नहीं।" यह सही है। कुछ दिन पहले इलाहाबाद-साइन्स-कांग्रेस में व्याख्यान देते समय पंडितजी ने कहा, "मैं पन्तजी से सहमत नहीं हूँ, जब वह कहते हैं कि कुदरत का कानून अस्थायी है। असल में तो कुदरत का कानून अटल और अजेय है। मनुष्य उसे समझने में और उसपर विजय पाने में अबतक निष्फल रहा है। जो कुछ हुआ है, वह इतना ही कि मनुष्य कुदरत से सहयोग करके उसका उपयोग करता रहा है।" यह नास्तिकता नहीं, परले सिरे की आस्तिकता है।

साधन और साध्य में सामंजस्य को गांधीजी ने अपने प्रवचनों में काफी महत्त्व दिया है। अच्छे ध्येय के लिए भी बुरे साधनों का प्रयोग त्याज्य है, इसपर गांधीजी ने जितना भार दिया है, उतना हमारे प्राचीन लोगों ने शायद ही दिया हो।

राजनैतिक दाँवपेच हर युग में चलते रहे हैं और हमारे पूर्वज भी इन दाँवपेचों में वंचित न थे। देव-दानवों के संघर्ष में देवों की गिरती आई तो वामन ने बलि को धोखा दिया। उसके पहले विष्णु ने मोहिनी बनकर दैत्यों से अमृत चुराया। राम ने छिपकर बाली को मारा। ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। भारत की भविष्य की अंतरराष्ट्र-नीति इन दाँवपेचों का तिरस्कार करेगी, ऐसा मानने की भी कोई गुंजाइश नहीं। पर गांधीजी इस पैंतरे-

बाजी से परे थे और उस नीति का जवाहरलालजी पर भी प्रभाव पडा है, ऐसा उनके अनेक उद्गारो से पता चलता है। गाधीजी का यह स्वर्ण-नियम स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद कभी कसौटी पर नही चढा। जवाहरलालजी यदि इसको व्यावहारिक रूप मे सफल कर दिखायेगे तो अवश्य ही हमारी एक अद्भुत विजय होगी।

जवाहरलालजी एक महान् व्यक्ति है। उनमे महत्ता क्या है, इसका विश्लेपण कष्टसाध्य है। सोना या हीरा महज अपने बुनियादी तत्त्वो के कारण ही कीमती नही होता। कहते है, जो तत्त्व हीरे मे है, वे कोयले मे भी है। पर कोयला कोयला ही है और हीरा हीरा ही। पडितजी मे अभय है, न्यायबुद्धि है, कुशाग्रता है, तेजस्विता है, विद्वत्ता है और ऊँचे दरजे की साहित्यिक कला-कुशलता है। पर उन्हे किस चीज ने बडा बनाया, यह बताना असम्भव है। बात यह है कि वह बडे है और इस देश को उनकी सेवा की अत्यन्त आवश्यकता है।

फरवरी, १९४९

# ८ | जमनालालजी

सोमवार की बात है। जमनालालजी से मिले दो-तीन दिन हो गए थे। मैं तो था सेवाग्राम मे और जमनालालजी वर्धा मे। मैंने सोचा, चलो, जमनालालजी को यहाँ बुलाले और कुछ इधर-उधर की बाते भी करले। इसलिए मैंने सन्देश भिजवा दिया कि जरूरी काम है, मिल जाइयेगा।

उस दिन जमनालालजी की तबीयत खराब थी। सिर में कुछ चक्कर आ रहे थे। मेरा सन्देश उन्हें मिला तब दोपहर की कडी धूप थी। सन्देश मिलने पर उन्होंने जानकीदेवी से कहा, "घनश्यामदास के पास कोई जरूरी काम नही है। आज बापू का मौनवार है, इसलिए मालूम होता है, वह अकेला ऊब गया है और महज दिलबहलाव के लिए मुझे बुला भेजा है। पर मैं तो जाऊँगा।" जानकीदेवी ने कहा, "कोई जरूरी काम नही है तो न जाइये। उसे क्या पता, आपकी तबीयत आज ढीली है।" पर जमनालालजी का स्वभाव ही ऐसा था कि वे अपने शरीर की कम परवाह करते थे। जब उनका ज्यादा हठ देखा तो जानकीदेवी ने कहा, "अच्छा, जाना है तो शाम को जाइये। इस दोपहर की धूप को तो टाल दीजिये।"

जानकीदेवी का आग्रह मानकर जमनालालजी दोपहर के

बजाय शाम को सेवाग्राम पहुँचे। मैने उन्हे देखते ही मजाक में कहा, "वहाँ बिना काम आप पडे थे, इसलिए मैने यहाँ बुला लिया। कोई काम तो नही था।" जमनालालजी ने भी हँसकर कहा, "देखो, मैने तो जानकी से पहले ही कह दिया था कि कोई काम नही है। पर तो भी चला आया, हालाँकि आज मेरी तबीयत अच्छी नही थी।"

तबीयत की खराबी का जिक्र आते ही मेरी हँसी गायब हो गई। मैने कहा, "आप आये ही क्यो ? मुझे कुछ काम की बाते भी करनी थी। अब नही करूँगा। फिर करेगे। आप फौरन लौट जाइये।" तो भी वे बैठ गए। कुछ इधर-उधर की बाते की। मालूम हुआ, उन्हे कुछ चक्कर आ रहे थे। मैने कहा, "आप जाइये। स्वस्थ होने पर फिर बाते कर लेगे।"

मुझे पता भी नही था कि जमनालालजी का इन दिनो रक्त-दबाव बढ गया था। ऐसा पता होता तो चक्कर का नाम सुनते ही मै चौकन्ना हो जाता। मैने पूछा भी नही कि रक्त-दबाव की शिकायत तो नही है ?

"बृहस्पतिवार को आऊँगा।" जमनालालजी ने कहा।

बृहस्पति को सेवाग्राम और वर्धा के बीच की पहाडी पर सुबह साढे सात बजे हम मिलेगे, ऐसा निर्णय हम दोनो ने कर लिया और जमनालालजी वर्धा के लिए चल पडे। जाते-जाते महादेव भाई से कह गए, "महादेव, कुछ चक्कर-सा आता है। घनश्यामदास का वारट गया, इसलिए चला आया। पर जाता हूँ।" महादेव भाई ने कहा, "विश्राम लीजिये !" उन्हे पता था कि जमनालालजी को रक्त का दबाव अधिक था, उस समय दबाव ज्यादा था या कम, इस जाँच की कोई आवश्यकता भी

उस समय उन्हे महसूस नही हुई।

जाते-जाते जमनालालजी ने सोचा, बापू को भी तो नमस्कार कर चले। गाधीजी की कुटी की तरफ गये तो पता चला कि गाधीजी भोजन के लिए भोजनालय की तरफ चले गए है। इसलिए बिना नमस्कार किये ही अपने तॉगे की ओर चल दिये। गाधीजी ने जाते हुए जमनालालजी की पीठ देखी। गांधीजी का मौन था, इसलिए उन्होने इन्हे पुकारा नही, हालाँकि गाधीजी की इच्छा हुई कि जमनालालजी मिल जाते तो ठीक था। जमनालालजी उनसे मिले नही, इसलिए गाधीजी को यह भी पता नही चला कि उस दिन जमनालालजी कुछ रुग्ण थे और उन्हें चक्कर आ रहे थे।

तॉगे मे बैठे-बैठे फिर जमनालालजी ने पुकारकर मुझसे कहा, "बृहस्पति को आऊँगा।"

"पूरा आराम लीजियेगा, जल्दी न कीजियेगा।" मैने उत्तर मे कहा।

बुध को जमनालालजी बिलकुल स्वस्थ थे। सुबह टहलने गए। मित्रो से कहा, "आज तबीयत बिलकुल दुरुस्त है।" दो दिन तक उन्होने उपवास किया था। उसका काफी अच्छा असर हुआ। बुध को बारह बजे उन्होने भोजन किया और तीन घटे बाद इस ससार से बिदा ले ली।

बृहस्पति को साढे सात बजे सुबह सेवाग्राम और वर्धा के बीच की पहाडी पर हमारी भेंट होनेवाली थी। बीच मे यह दुर्घटना हो गई। तो भी जमनालालजी जिन्दा ही है, ऐसा लगता था। मै सुबह उस पहाडी पर टहलने गया, जहाँ हम दोनों ने मिलना तय किया था। "जमनालालजी! ओ! ओ! ओ!

जमनालालजी !" कई मर्तबे मैने जोर की आवाज दी। पर सिवा जगल की प्रतिध्वनि के और कोई उत्तर नही मिला।

जमनालालजी सचमुच हमसे बिदा हो चुके थे !

मैने महादेव भाई से कहा, "महादेव भाई, क्यो नही मैने जमनालालजी से पूछा कि आपको रक्त का दबाव तो नही है? यदि मैने प्रश्न किया होता तो मुझे उनकी बीमारी का भेद खुल गया होता और हम लोग सावधानी से उनका उपचार करते।"

महादेव भाई ने कहा, "क्यो नही मैने जानते हुए भी कि उनको अधिक रक्त-दबाव की शिकायत है, उनकी उसी समय हमारे सेवाग्राम के डाक्टर से परीक्षा करवा ली ? यदि मै ऐसा करवा लेता तो मुझे पता चल जाता कि उनका रक्त-दबाव काफी ऊँचा है और उन्हे सेवाग्राम से जाने नही देता और लिटाकर रखता।"

"क्यो नही" गाधीजी ने कहा, "जमनालाल सेवाग्राम आकर भी मेरी तरफ आया ? यदि वह मुझसे मिलता तो अवश्य अपने चक्कर की बात मुझे कहता और मै उसी समय उसे सेवाग्राम मे कैद करके पूरा विश्राम लेने के लिए बाध्य करता।"

पर इस 'क्यो नही' 'का उत्तर कौन दे ? कितनी बार हम 'क्यो नही' कहते है, पर इसका उत्तर तो यह है

**अभूतपूर्वो न च केन दृष्टो,**
**हेम्न. कुरगो न कदापि वार्ता।**
**तथापि तृष्णा रघुनन्दनस्य,**
**विनाशकाले विपरीतबुद्धि ॥**

—सोने के मृग भी कभी हुआ करते है—साधारण मनुष्य को भी यह ज्ञान तो है। फिर राम-जैसे महापुरुष को यह अविदित

थोडे ही था कि सोने के मृग नही होते। फिर रामचन्द्रजी-जैसों को स्वर्णमृग-चर्म की तृष्णा क्यो ? पर बात तो यह है कि जब कोई दुर्घटना होनेवाली होती है तो निर्णय भी विपरीत हो जाता है—

यत्पूर्वं विधिना ललाटलिखितं तन्मार्जितु कः क्षमः !

•

## ९ | महादेव देसाई

महादेव भाई से मेरा परिचय पहले-पहल कब हुआ, यह तो आज मुझे स्मरण भी नही है। लम्बे अरसे की घनिष्ठ मैत्री की तह मे वह तिथि दब-सी गई है। पर महादेव भाई के मीठे सस्मरणो पर दृष्टिपात करता हूँ तो मुझे विश्वास नही होता कि वह मर गए—और फिर जब यह पाता हूँ कि हमारे लिए वह आज सदा के लिए अप्राप्य हो गए है तो एक लम्बी आह निकल पड़ती है। मरण इस जीवन का नैसर्गिक अन्त है और मृत्यु का अत जीवन ही होगा, ऐसा भी मान लेना चाहिए। पर तो भी स्वजन की—और सो भी सुजन की—मृत्यु अवश्य ही छलकते हुए हृदय पर मुर्दनी-सी छा देती है। तभी तो भर्तृहरि ने कहा है—'पता नही, यह जगत् जहर है या अमृत !'

महादेव भाई के सस्मरण लिखना मेरे लिए आसान भी है तो कठिन भी। इतने संस्मरण है कि कहाँ से आरम्भ करूँ और कहाँ अत करूँ, और सारे-के-सारे सस्मरण अत्यन्त सुखदायी है। मुझे याद नही आता जब महादेव भाई को मैने रूठा हुआ पाया हो या क्रुद्ध देखा हो। हँसी तो उनके चेहरे पर आठों पहर खेलती रहती थी। महादेव भाई भावुक श्रद्धालु होते हुए भी व्यावहारिक थे। वह हर पल कार्य मे तत्पर रहते थे। वह निरालस्य थे।

ज्ञान के वह भंडार थे। गम्भीर होते हुए भी मजाक की उनमे कमी नही थी। बापू के मंत्रिपद को उन्होने बड़ी शान के साथ सुशोभित किया और अन्त मे बापू की सेवा करते-करते मर गए। राजाजी ने सच कहा है, "महादेव भाई की मृत्यु से बापू अनाथ हो गए है।"

किसी एक सम्मानित पुरुष को पत्र लिखते समय महादेव भाई ने लिखा था, "मै बापू का मंत्री, सेवक और पुत्र का एक सम्मिलित पुलिंदा हूं।" मैने महादेव भाई को इन तीनो रूपो मे देखा है। मुझसे तो महादेव भाई का घनिष्ठ भाईचारा था, अत मेरे लिए उनका मंत्रित्व कोई खास मानी नही रख सकता था। पर तो भी, मेरे पास भी महादेव भाई बापू के मंत्री बनकर आ सकते है, इसका एक मर्तबा मुझे दिलचस्प अनुभव हुआ और उसके कारण महादेव भाई की योग्यता का मै और भी कायल हो गया।

बहुत वर्षो की बात है। गांधीजी दिल्ली आये हुए थे और हरिजन-निवास मे ठहरे थे। उन्ही दिनो कवि-सम्राट् टैगोर भी 'विश्वभारती' के लिए धन-संग्रह करने के दौरे पर निकले थे। वह भी दिल्ली आ पहुँचे। कवि-सम्राट् का कार्यक्रम यह था कि जगह-जगह वह अपनी कला का प्रदर्शन करें और बाद मे लोगो से धन के लिए प्रार्थना करें। गांधीजी को यह चीज चुभ-सी गई। एक इतना बड़ा पुरुष 'गुरुदेव' इस बुढ़ापे मे जगह-जगह धन एकत्र करने के लिए—और सो भी कुल साठ हजार रुपयो के लिए—अपने नाट्य और नृत्य का प्रदर्शन करे, यह गांधीजी को असह्य लगा। मै तो गांधीजी से रोज ही मिलता था, पर मुझसे उन्होने इसका कोई जिक्र नही किया। लेकिन उनकी वेदना बढ़ी

जाती थी और जब उसे वह बर्दाश्त न कर सके तो महादेव भाई से उन्होने अपना सारा दर्द बयान किया।

पहर रात बीती थी। मै अभी सोया नही था। सोने की तैयारी मे लेट गया था। बत्ती बुझा दी थी। अचानक किसी के पॉव की आहट पाकर मै सचेत हो गया। "कौन है ?" मैने पूछा। महादेव भाई ने कहा, "मै हूँ।" महादेव भाई चुपचाप मेरे कमरे मे आकर मेरी खटिया के पास बैठ गए। "महादेव भाई, तुम ! रात को कैसे ? सब मगल तो है न ?" "हॉ, सब मगल है। कुछ सलाह के लिए आया हूँ।" मै खटिया पर से उठने लगा। महादेव भाई ने कहा, "लेटे रहिये, लेटे-लेटे ही बाते कर लीजिये, उठने की कोई जरूरत नही।" मैने फिर उठना चाहा, पर अन्त मे महादेव भाई के आग्रह से लेटा ही रहा। "हॉ, तो क्या है ? कहो !" मैने पूछा। बस, फिर तो महादेव भाई का प्रवचन चला। मुझमे शक्ति नही कि मै उसे लिपिबद्ध कर सकूँ। जिस ओज और कला के साथ उन्होने गाधीजी की मर्म-वेदना का चित्र खीचा, वह देखनेलायक था। सारा दृश्य मेरी ऑखो के सामने नाचने लगा। महादेव भाई की वाणी मे भावुकता थी, मृदुता थी और थी तेजस्विता।

गुरुदेव का गुणगान और हमारा दुर्भाग्य कि गुरुदेव को थोडे-से धन के लिए इस बुढापे मे नाचना पडे तथा बापू की अतर्वेदना—इन सब चीजो का मर्मस्पर्शी चित्र हृदयगम करते ही मुझे रुलाई आने लगी।

"बापू ने कहा है कि घनश्यामदास से कहो, वह अपने धनी मित्रो को लिखे कि कुल छह जने दस-दस हजार की रकम गुरुदेव को देकर हिंदुस्तान को इस शर्म से बचाले और गुरुदेव को

निश्चिन्त करके शांतिनिकेतन वापस भेज दें।" महादेव भाई ने अपने अभिभाषण की समाप्ति में कहा।

"महादेव भाई, बापू की पीड़ा को मैं समझ सकता हूँ, पर तुम इतनी रात गये, ठिठुरते जाड़े मे, यहाँ क्यों आये ? बापू स्वयं भी निर्णय कर सकते थे। मैं किसके पास भिक्षा माँगने जाऊँ ? बापू से कहो कि जो देना हो, मुझसे मँगा ले और गुरुदेव को दे दे।" मैंने ऐसा कहा तो सही, पर इसका श्रेय तो महादेव भाई को ही था, क्योकि उनके शांत, पर मार्मिक अभिभाषण ने मेरे लिए दूसरा कोई निर्णय छोड़ा ही न था।

एक चतुर कलाकार मिट्टी के लोंदे को जिस तरह अपनी अंगुलियों की करामात से जी-चाहा रूप दे देता है, उसी तरह महादेव भाई ने लोगों के दिल पर मनमाना असर डालकर उसे अपने अनुकूल बना लेने की शक्ति प्राप्त कर ली थी और वह शक्ति अद्भुत थी। उनकी लेखनी मे भी वही ओज था। पर जबान में भी कम करामात न थी। पारंगत मंत्री को कभी विनम्र तो कभी रूखा, कभी सहनशील तो कभी असहिष्णु, कभी भावुक तो कभी व्यावहारिक बनना पड़ता है। महादेव भाई एक कलाकार की तरह आवश्यकतानुसार इन सब भावों का प्रदर्शन कर सकते थे।

ठक्करबापा जब सत्तरवे वर्ष में पहुँचे तो उनके कुछ मित्रों ने उनकी 'मंगल-सत्तरी' मनाने का निश्चय किया। और वह निश्चय भी नितान्त निर्जीव था। सत्तरी के उपलक्ष्य मे सत्तर-सौ—यानी सात हजार—रुपया इकट्ठा करना, इतना ही निश्चय था। गांधीजी ने सुना तो कहा, "ठक्करबापा की सत्तरी मे केवल सत्तर सौ ? न तो सत्तर हजार, न सात लाख। कम-से-कम

सत्तर हजार तो इकट्ठा करना ही है।" पर सत्तर हजार भी प्रस्तावको को पहाड-सा लगा। सत्तरी के दिन नजदीक आने लगे, पर धन एकत्र न हो सका। अन्त मे गाधीजी ने महादेव भाई को बंबई भेजा। अब तो धन बरसने लगा और दो दिन मे एक लाख बीस हजार एकत्र हो गया।

कुछ साल बीते, गुजरात मे अकाल पडा। तब फिर गाधीजी ने महादेवभाई को बबई धन-एकत्र करने के लिए भेजा। निश्चय किया था कोई तीन लाख इकट्ठा करना, पर इकट्ठा हो गया कोई सात-आठ लाख। सबसे आश्चर्य तो यह था कि महादेव भाई को ऐसे लोगो से भी अच्छी रकम मिली, जो अपनी कजूसी के लिए बाजीमार समझे जाते थे।

सचमुच महादेव भाई गाधीजी के महज एक मत्री ही नही, बल्कि एक दूसरे शरीर बन गए थे। गाधीजी के विचारो को उन्होने इतना पी लिया था और उन्हे इतना हजम कर लिया था कि वह गाधीजी के मत्री ही नही, ऐन मौके पर गाधीजी के सलाहकार और सचालक तक बन बैठते थे।

कुछ ही दिनो पहले एक विलायती अखबार का प्रतिनिधि मौजूदा परिस्थिति पर गाधीजी का एक वक्तव्य लेने के लिए आया। गांधीजी ने खाते-खाते महादेव भाई को वक्तव्य लिखाना आरभ किया। मै देख रहा था कि महादेव भाई की क़लम इस सिफ्त के साथ चलती थी कि गाधीजी की जबान से जो भाषा निकलती थी, उससे दो-एक शब्द आगे उनकी कलम निकल जाती थी, अर्थात् गाधीजी अमुक शब्द के बाद किस शब्द का प्रयोग करेंगे, इसका महादेव भाई को अंतर्ज्ञान था, जिसके कारण उनकी लेखनी अपना काम कर चुकती थी। पर जहाँ गाधीजी

की जवान से कोई अनुपयुक्त शब्द निकला कि महादेव भाई की लेखनी रुक जाती थी। कुछ अपनी नापसदगी उस शब्द के संबध मे महादेव भाई जाहिर करते थे, कुछ वाद-विवाद, फिर समझौता और फिर लेखनी का प्रवाह जारी। यह एक दिलचस्प दृश्य होता था। पर इसके अलावा मैने यह भी देखा है कि गाधीजी गुजराती या हिन्दी मे व्याख्यान दे रहे है और महादेव भाई प्रेसवालो के लिए उसका अग्रेजी मे उल्था करते जाते है, और कलम गाधीजी की जवान के साथ-साथ दौडती जाती है। यह करामात हर मनुष्य मे नही होती।

गाधीजी के अनन्य उपासक होते हुए भी महादेव भाई के अपने स्वतत्र विचार थे। गाधीजी के विचारो का विरोध करने की उनमे क्षमता थी। गाधीजी से भिड जाने की उनमे शक्ति थी और गाधीजी पर उनका खूब असर पडता था। वह कभी-कभी बापू की कडी आलोचना करते थे, पर शुद्ध भक्ति-पूर्वक। लेकिन जहाँ गाधीजी ने एक अतिम निर्णय किया कि बस, महादेव भाई अडिग निश्चय के साथ गाधीजी की योजना में कूद पड़े। सशय-कल्लोल मे खेलना उन्हे पसन्द नही था।

गाधीजी की चेष्टाओ और वेश-भूषा की महादेव भाई ने कभी नकल नही की। उन्हे कभी 'उपगांधी' बनने का शौक पैदा नही हुआ। आजीवन वह गांधीजी के अनन्य अनुचर रहे और उनके विचारो को रोम-रोम मे भरकर उनके साथ अभिन्न भी हो गए थे।

दो-तीन सालो मे कई मर्तबा महादेव भाई ने गाधीजी से बहस करके उनके उपवास-संबधी विचारो पर प्रहार किया। कई मर्तबा उन्होने गाधीजी के उपवास-सम्बन्धी निर्णयों को

वदलवाया भी था।

कहाँ ऐसे मत्री होते है, जो मत्री भी हो और सलाहकार भी हो, जो सेवक हो और पुत्र भी हो !

शायद सबको इसका पता भी न हो कि महादेव भाई ने कई साल पहले गीता का अग्रेजी मे अत्यन्त प्रामाणिक अनुवाद कुछ टीका के साथ किया था। ज्ञान का भडार तो महादेव भाई का अनुपम था ही। जितना उन्हे पाश्चात्य दर्शन का ज्ञान था, उतना ही हमारे शास्त्रो का भी था। इसलिए गीता के अनुवाद के वह अवश्य ही शास्त्रीय अधिकारी थे। अपने किये हुए अनुवाद के कई अग उन्होने मुझे समय-समय पर सुनाये, जो मुझे अत्यन्त आकर्षक लगे। वह अनुवाद अबतक छपा ही नही। कई मर्तबा मैंने उन्हे उसे छपाने का तकाजा किया, पर असल बात तो यह थी कि गाधीजी की टहल-चाकरी से उन्हे इस अनुवाद को छपाने की फुर्सत ही नही मिली। गाधीजी के सम्बन्ध मे समय-समय पर लिखी हुई इतनी टीपे (नोट्स) उनके पास थी, वे गाधीजी की वृहत् जीवनी के लिए एक अत्यन्त उपयोगी मसाला है। मै कहा करता था, "महादेव भाई, बापू का वृहत् जीवन-चरित कभी तुम्हे ही लिखना है।" और महादेव भाई बडे उल्लास के साथ हामी भी भरते थें, पर वह दिन नही आया। **मन की मन ही माँहि रही।**

पर महादेव भाई की मृत्यु अचानक हुई है, ऐसी बात नही है। काल भगवान् का पहला न्यौता तो उन्हे पाँच साल पहले ही आ गया था। गाधीजी के अत्यन्त आग्रह से उन्होने उस समय विश्राम लिया और मृत्यु की भेट से बचे। राजकोट-प्रकरण के जमाने मे फिर उन्हे दूसरा न्यौता मिला। इस समय

वहाँ से दिल्ली में आकर मेरे पास दो महीने रहे और फिर रोग-मुक्त हुए। इसके बाद तो गांधीजी के आग्रह करने पर भी उन्होंने विश्राम लेने से इन्कार किया। आठेक महीने पहले फिर अचानक रोग ने उनपर आक्रमण किया, पर लाख कहने पर भी दो सप्ताह से ज्यादा उन्होंने विश्राम नहीं लिया।

कुछ समय पहले की बात है। जेठ की दुपहरी थी। गांधीजी के साथ कड़ी धूप में चलते-चलते उन्हें बेहोशी आ गई थी। इसका विवरण सुनकर महादेव भाई से मैंने कहा, "महादेव भाई, यह शर्म की बात है कि बूढे बापू तो धूप मे चल सकें और तुम बेहोश हो जाओ। कुछ दिन मेरे साथ रहकर विश्राम करलो और सुदृढ़ बन जाओ।"

पर महादेव भाई की दीर्घदृष्टि के सामने कांग्रेस का आन्दोलन था। गाधीजी के उपवास की आशका थी। इसलिए उनको न थी विश्राम मे रुचि, न थी उन्हें फ़ुर्सत। उपवास की आशंका से महादेव भाई काफी त्रस्त थे। उन्होंने मेरे तकाजे के उत्तर में कहा, "मैं तीन महीने भी विश्राम ले लूँ, तो भी मैं कहाँ बापू की बराबरी करने लायक बनूँगा! मुझसे कहाँ धूप में चला जायगा? मैं कहाँ लबी जिदगी पाऊँगा? अच्छा हो, मैं तो काम करते-करते ही बापू की गोद में सिर टेके मर जाऊँ!"

और जैसे भगवान् ने भी कहा—'एवमस्तु!'

कैसा था वह रतन, जो चला गया!

१०

# ठक्करबापा

व्यासजी ने कहा था कि करोडो पोथियो मे जो बताया गया है, वही मै आधे श्लोक मे बता देता हूँ—**परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्।** अर्थात्—परोपकार ही पुण्य है और दूसरो को पीडा देना ही पाप है। ठक्करबापा को केवल इतने ही कथन से पर्याप्त चित्राकित किया जा सकता है कि इस आधे श्लोक मे बताये धर्म को उन्होने अपने जीवन मे पूरी तरह से ओत-प्रोत किया है।

बापा के संसर्ग मे मै किस सन् या तारीख मे आया, यह तो मुझे स्मरण नही, पर इतना अवश्य याद है कि उस समय उनका अमृतलाल ठक्कर ही नाम चलता था और पिछडे हुए लोगो की सेवा करना उनका पेशा था। बापा की उपाधि तो उन्हे पीछे से मिली, जो नितान्त सार्थक है।

कहते है, ठक्करबापा गृहस्थ थे और इजीनियर भी थे। सुना है कि अफ्रीका मे रेल की पटरियाँ डालने का काम उनके सुपुर्द किया गया था, जिसे उन्होने अच्छे शऊर के साथ पूरा किया। पर उनकी जीवन-झाँकी, रहन-सहन या वेश-भूषा से उनका गृहस्थ होना या इजीनियर बनकर रेल की पटरियाँ बिछाना कुछ अनोखा-सा लगता है। ठक्करबापा के असली माने तो उनके जानकारो

के लिए इतना ही है कि वह एक शुद्ध, विनम्र और गरीबों के नि स्वार्थ सेवक है, जिनमे न थकान है और न अभिमान। सेवा मे विघ्न आने पर उन्हे अवश्य रोष होता है, पर क्षणिक; और लोगो के दु ख से उन्हे चोट लगती है, वह स्थायी। उनकी कोई फिलासफी है तो सेवा की, और भक्ति है तो गरीब, पीडितों की।

मेरा गाढ संबंध ठक्करबापा से हुआ १९३२ मे। बापू जब यरवडा मे आमरण उपवास की दीक्षा लेकर मृत्यु-शैया पर लेटे थे, तब हम लोग श्री अम्बेडकर से बातचीत करके किस तरह हरिजन-गुत्थी को सुलझावे, इस चिन्ता मे डूबे पडे थे। समय बीतता जाता था और बापू का शरीर धीरे-धीरे अस्ताचल की ओर डूबता जा रहा था। कुछ लोग सीटो की खीचतान मे थे, जिनपर हम लोगो को रोष आता था। उस समय कितनी सीटें न्यायानुकूल हरिजनो को मिले, इसका हिसाब निकालने का भार ठक्करबापा पर रखा गया और उन्होने इस भार को पक्षपात-रहित होकर उठाया। पूना-पैक्ट का प्राण हरिजनों को दिया हुआ मताधिकार है, जो ठक्करबापा की कृति है। इस दस्तावेज पर हम लोगों ने आख मूँदकर हस्ताक्षर किये।

उसके बाद जब 'हरिजन-सेवक-संघ' गठित करने का प्रस्ताव हुआ ओर मुझे उसका सभापति बनने का आदेश हुआ, तब इसी शर्त पर मैने इसे स्वीकार किया कि सघ का मत्रित्व ठक्करबापा को सौंपा जाय। सत्रह साल इस तरह ठक्करबापा के ससर्ग में बीते, जिसकी स्मृति मुझे चिरस्थायी रहेगी।

ठक्करबापा के सम्बन्ध मे अधिक लिखना बेकार है। कागज, कलम और स्याही उनकी कृति का क्या वर्णन दे सकती है! मेरा यह सद्भाग्य है कि मुझे एक साधु का संसर्ग मिला।

## ११ | मणिबेन

किसीके जीवन का चित्र खीचते समय अमुक व्यक्ति कब जन्मा, उसने कब-कब क्या-क्या किया, इस चक्कर मे फँसना फिजूल समय गँवाना है, क्योकि किसीके भी जीवन के सम्बन्ध मे जानना तो हमे इतना ही है कि उसमे कौन-कौन-सी खूबियाँ थी, जिनसे कि हम कोई सबक सीखे।

कहने के लिए तो जन्म से मृत्यु तक हर मनुष्य के जीवन मे एक अविच्छिन्न शृखला बतायी जाती है, जो हर मजिल मे उसके व्यक्तित्व को व्यक्त करती रहती है। तात्पर्य ऐसा कहनेवालो का यह है कि जो व्यक्ति जन्म के समय था, वही जवानी मे है और मृत्यु के समय भी वही रहेगा। किसीके मन्तव्य या विश्वास को ठेस लगाना, यह अभिप्राय कदापि नही है, पर जो जन्मा था वही युवा हुआ और वही वृद्ध होकर मरेगा, यह प्रमाणित करना ज़रा कठिन है, क्योकि मनुष्य हर घडी और हर अवस्था मे सतत बदलता रहता है। ज्यो-ज्यो आयु बीतती है, न तो वह पुराना शरीर ही रहता है और न वह पुराना मन और बुद्धि ही।

आत्मा क्या है ? उसे तो हम देख नही पाते, इसलिए उसके तर्क-वितर्क मे न पडना ही अच्छा है। पर इस कथन की भी कोई बुनियाद नही कि आत्मा जीवन-भर 'अपरिवर्तनशील' रहती है।

कहनेवाले यह भी तो कहते है कि आत्मा एक शुद्ध, बुद्ध, अनादि वस्तु है, जो सदा, सब जगह और सबमे एकरस हो व्याप्त रहती है, भिन्न-भिन्न व्यक्तियो में भिन्न-भिन्न नही। यदि ऐसा ही हो, तो फिर मनुष्य अपनी निजी आत्मा की अलग हस्ती का दावा भी कैसे करे! इसलिए जिससे हम कल मिले थे, आज भी वह वही है, यह शुद्ध सत्य नही कहा जा सकता।

जो हो, प्रस्तुत प्रसग तो मणिबेन का है और कहना यह है कि वह कब जन्मी, कैसे पली, क्या शिक्षा पाई, उसने कैसे त्याग को अपनाया, ये अनावश्यक प्रश्न है; क्योंकि जिस मणिबेन की मैं बात करना चाहता हूँ, वह मणिबेन तो वह है, जो इन कुछ सालो मे जनता के सामने आई, और वह सचमुच एक अद्‌भुत चरित्रवाली तपस्विनी है, जिसका जोड़ ढूँढना आसान नही।

१९४५ की जाडे की बात है। दिल्ली मे कड़ाके की सर्दी पडती थी। आकाश स्वच्छ रहता था और दिन मे धूप प्रखर होते हुए भी प्रिय लगती थी। उसी जाड़े में सरदार वल्लभभाई पटेल राज-प्रकरण को लेकर दिल्ली आये थे। मणिबेन भी साथ थीं। वैसे तो मैं सरदार और मणिबेन दोनो को वर्षो पहले से जानता था, पर १९४५ के बाद के पाँच वर्षो मे पिता-पुत्री से जो निकट सपर्क हुआ, उसीसे उनके हर पहलू का अध्ययन करने का मुझे विशेष अवसर मिला।

रात को हम लोग रोज कमरा बन्द करके अँगीठी जलाकर तापते थे। सरदार को हम लोगो पर इसी कारण तरस आता था। वे स्वय तो एक खादी का कुरता और एक गर्म जाकेट मे ही कड़ाके की सर्दी का सामना कर लेते थे और मणिबेन की आवश्य-कता तो और भी कम थी। खादी की एक मोटी सफेद साड़ी

और एक सफेद जाकेट इतना ही उसके लिए पर्याप्त था, चाहे कैसा ही हडकप जाडा क्यो न पड रहा हो ।

कुछ-कुछ अधपके बाल, कद की नाटी और वजन की अत्यन्त हल्की, जीर्णकाय मणिबेन यदि मुँह पर सफेद पट्टी बाँध लेती तो वह जैन साध्वी मे भी खप सकती थी । व्यवस्था-प्रिय मणिबेन हर चीज को अपने कमरे मे व्यवस्थित रखती थी और सरदार की भी व्यवस्था करती थी । बाप-बेटी समय के इतने पाबन्द थे, मेजवान की सुविधा-असुविधा का उन्हे इतना ख़याल रहता था कि उसे सकोच मे डाल देते ।

सरदार के दिमाग की मशीन हर समय काम करती ही रहती थी । उनको जीर्ण जुकाम की शिकायत सदा बनी रहती थी । इसलिए नाक को रूमाल से बार-बार साफ करते रहते थे और नाक को बार-बार खुजलाते हुए कमरे मे टहलते रहते थे । बैठने की आदत उन्हे कम थी । टहलते-टहलते अचानक कह देते—"बुलाओ अमुक को !" नया आदमी शायद इसका अर्थ भी न समझे । किसे और कहाँ से बुलाओ ? पर मणिबेन जानती थी कि वह सबोधन उसके लिए है और बुलाने के माने है अमुक को टेलीफोन पर बुलाना । कभी-कभी टेलीफोन पर आमन्त्रित वह सज्जन पूना मे होता था, तो कभी बबई, कलकत्ता, नागपुर या पेशावर मे, पर मणिबेन ने सबके टेलीफोन के नम्बरो की अपने दिमाग मे एक पक्की नोध कर रखी थी, जिसके कारण बिना कुछ हिचकिचाए वह अपने काम पर जम जाती । मेरे मन पर उसकी इस अद्भुत कार्यक्षमता की यह पहली अमिट छाप पडी ।

मणिबेन के जीवन का क्या लक्ष्य रहा है, सो तो शायद वह भी ठीक तरह से न बता सके, क्योकि मनुष्य जबतक अपने-आप

का अध्ययन नही करता, तबतक स्वय भी नही जानता कि वह क्या है। पर एक चीज स्पष्ट है। मणिबेन के जीवन का ध्येय उसका अपना 'पिता' रहा है। सरदार को उनकी छाया भी सूर्यास्त के उपरान्त विश्राम के समय छोड देती थी, पर मणिबेन का पहरा रहता था चौबीस घटे। उसकी नजर सरदार सोते हो या जागते हो, काम करते हो या विश्राम करते हो, हर समय उनपर सजग होकर गड़ी रहती थी और सरदार की हर क्रिया के पीछे प्रच्छन्न रूप से चलती रहती थी। कितनी ही गुप्त मत्रणा या किसीके साथ निजी मुलाकात ही क्यो न हो, मणिबेन मूर्ति की तरह सरदार के निकट सदा प्रस्तुत रहती थी, जैसे वह सरदार का ही अविच्छिन्न अंग हो।

कानून का तकाजा था कि कैबिनेट-मीटिग मे मत्री की हैसियत से केवल सरदार ही शरीक हों। इसलिए सरदार कैबिनेट के भीतर अकेले जाते और मणिबेन बाहर बैठ जाती थी। सरदार ससद मे जाकर बैठते तो मणिबेन ऊपर गैलरी मे जा बैठती। मणिबेन को इसका कोई क्षोभ नही था, क्योकि वह एक तरह से सरदार के पास ही रहती थी। तन न सही, मन तो था ही।

सरदार का नित्य का अभ्यास था कि सुबह शौच-स्नान के बाद टहलने जायँ। टहलना उनका तेजी के साथ होता था। तीन मील सुबह और दो-तीन मील शाम को। घर मे भी जब कोई काम न हो तो घूमते ही रहते थे। शायद घूमने से उनके विचारो मे चचलता ज्यादा आ जाती थी। पहाड़ों पर जब जाते तब तो सरदार दोनों वेला पद्रह-बीस मील का भी चक्कर लगा लेते थे। पर मणिबेन भी इन सब घूम-टहल मे अपनी हड्डियों के पिजर को दौड़ाती हुई साथ ही रहती थी। मुझे आश्चर्य होता था कि

इतना कम खानेवाली मणिबेन को बीस मील चलने का यह बल कहाँ से मिलता था ! अन्न से नही, यह उसके दृढ मानस से मिलता था। जो हो, इस दौड मे सरदार से एक कदम, सिर्फ एक ही कदम पीछे, मणिबेन को मै पाता था।

सरदार को जबसे हृदय-रोग का आक्रमण हुआ, तबसे उनका टहलना भी चला गया और साथ ही गया मणिबेन का भी टहलना। अब सरदार ने टहलने के बदले केवल मोटर का घूमना जारी रखा। इसके साथ मणिबेन का भी कार्यक्रम बदल गया।

मै रोज सुबह सरदार के साथ घूमने के लिए उनके घर जाता तो सरदार को पाता स्नानघर मे स्नान करते और मणिबेन को स्नानघर के दरवाजे के सामने चर्खा कातते। मणिबेन की एक ऑख चरखे पर तो दूसरी ऑख रहती थी स्नानघर के दरवाजे पर। और भीतर से पानी की कलकल की, खॉसने की या खडाऊँ की, जो भी आवाज आती, उन सबके सकेत मणिबेन को याद थे। सरदार की हर गति का उसके पास एक कोष था, जो उसे कठाग्र था और जिसके अर्थ केवल वही जानती थी। पानी की एक तरह की आवाज के माने थे सरदार मुँह धो रहे है, दूसरी तरह का शब्द हुआ, अब शरीर पर पानी डाल रहे है, अब गमछे से शरीर पोछते है, अब धोती पहनते है, तो अब खडाऊँ की आवाज आई और सरदार स्नानघर से निकलेगे। बस, मणिबेन का चर्खा बन्द, और सरदार की चप्पल स्नानघर के दरवाजे के सामने जा सजी। स्वय उठी कि सरदार निकले। "अच्छा, आ गए चलो," और चली मणिबेन पीछे-पीछे। चरखे से सूत इतना निकालना कि जिससे निजी और सरदार के सारे कपड़े उसीमे से बन जायें। इतना काम, फिर भी किसी चीज का व्यक्तिक्रम नही। ऐसी गजब की

रही है मणिबेन।

शारीरिक भोगो का त्याग कइयो ने किया। कइयों के पास भोग की सामग्री ही नही थी, फिर भी बिना त्याग किये ही त्यागी कहलाये। पर सरदार ने सचमुच में त्यागा, क्योंकि बैरिस्टरी पास करके उन्होने सग्रह किया, अग्रेजी ठाट का जीवनक्रम चलाया, बच्चो को पादरियो के स्कूल मे भेजकर विद्यारम्भ कराया, पैसे कमाये और फिर त्यागा, और त्यागा तो ऐसा कि फिर मुँह मोड़कर नही देखा।

राजसत्ता आई, तो भी उनकी जीवन-शैली में कोई फर्क नही पड़ा। वही सादा जीवन, वही रहन-सहन, वही खान-पान और वही वेश-भूषा। पर मणिबेन का त्याग तो और भी उत्कृष्ट, क्योंकि सरदार ने तो भोग करके त्यागा, मणिबेन ने तो भोग को छूआ ही नही। इसका मणिबेन को खयाल हो तो अभिमान भी हो, पर न खयाल है और न अभिमान।

"बीरबल, ला कोई ऐसा नर; पीर, बावर्ची, भिश्ती, खर।" मणिबेन ऐसी ही 'पीर', 'बावर्ची', 'भिश्ती', 'खर' रही है। घर की देखरेख मे बावर्ची कहो या चाकर। सफाई तो घर मे ऐसी कि कचन-सा आँगन। धूल खोजने पर भी न मिले। खर्च कम-से-कम, पर राजाओं-महाराजाओं, राजदूतो और मेहमानों को खिलाने-पिलाने मे कोई कजूसी नही।

सरदार के साथ संसद मे जाकर सरदार के व्याख्यान के नोट ले, सरदार की डाक मणिबेन के हाथों से गुजरे, मुलाकात की नोंध भी मणिबेन रखे और रात को दिन की सारी डायरी लिखे। ऐसी 'पीर', रात को सरदार को सुलाकर पीछे सोये और उनके उठने के पहले उठे। एक ही शरीर में वह सरदार की पुत्री,

चाकर, मंत्री, धोबी और अगरक्षक रही ।

सरदार की अगरक्षा मे मणिबेन ने बहुतो को तग किया, बहुतो को क्षुब्ध किया । कुछ लोगो को अपमानित भी किया । पर मणिबेन को इसका कोई ख़याल नही, क्योकि उसने अपनी जान मे किसीका अपमान किया ही नही । उसकी दृष्टि एकागी रही और वह थी सरदार की रक्षा ।

मणिबेन की पितृ-भक्ति यदि मूक थी, तो सरदार का पुत्री-वात्सल्य भी मूक था । दोनो एक-दूसरे की भक्ति और स्नेह को पहचानते थे और इसकी स्वीकारोक्ति दोनो ही की मूक होती थी । पर मणिबेन एक बार बीमार पडी तो सरदार की जबान का ताला टूट पडा—"यह मरी, तो मै मरा ." पर वे तो पहले ही चल दिये ।

सरदार जब मृत्यु-शैया पर पड़े तो मणिबेन ने स्पष्ट जान लिया कि अब उनका अन्त आ गया है । सरदार ने समझ लिया कि अब मृत्यु का द्वार खुल गया है । वे मृत्यु-शैया पर पडे गुन-गुनाते रहते थे—"मगल मदिर खोलो, दयामय !" पर पिता-पुत्री का वह मौन जारी ही रहा । सरदार ने कभी पुत्री से नही कहा, "मै अब जाऊँगा और तुम्हे यह करना है ।" और न मणि-बेन ने यह पूछा, "तुम्हारे पीछे से कोई आदेश है क्या ?" दोनो-के-दोनो ईश्वरवादी ठहरे, इसलिए भविष्य भगवान् को सौपकर निश्चित रहा करते थे । मणिबेन अपने कर्तव्य से कभी नही घब-राई ।

"जिस दिन का मुझे डर था, वह अब आ रहा है"—कहकर उसके कुछ ऑसू गिर पडे । मैने ढाढस देते हुए कहा, "ऐसा क्यो मानती हो ?" पर मै तो एक साल से मानता था कि उनका अन्त

आ रहा है।

सरदार १९४५ के जाड़े में दिल्ली आये और १९५० के जाड़े मे दिल्ली से उन्होने अन्तिम विदाई ली। दिल्ली छोड़ने के पहले सरदार ने अपने मित्रों से, एक-एक करके सबसे, आखिरी भेंट की। वे जानते थे कि यह अन्तिम विदा थी, मित्रों से और दिल्ली से भी। मणिबेन भी यह जानती थी। पर उसने अपना धीरज कभी नही खोया। "ईश्वर को जो स्वीकार है वही होगा, इसमे घबराने की क्या बात है"—यह कहकर वह सन्तोष कर लेती। विदा के दिन सरदार को पहुँचाने के लिए हवाई अड्डे पर सब मित्र-बांधव आये थे। सरदार अपने प्लेन के दरवाजे के पास एक कुर्सी पर बैठकर मुस्कराते हुए सबसे नमस्कार करते रहे और विदा लेते रहे। मैं उस समय का उनका वह चेहरा भूल नही सकता। शरीर अत्यन्त दुर्बल और नितान्त अशक्त हो गया था। चेहरा पीला पड गया था। पेट मे असह्य पीड़ा थी, पर सरदार मन को कडा करके कुर्सी पर बैठे-बैठे मखौल करते जाते थे। और हँस-हँसकर सबसे अन्तिम विदा ले रहे थे। उनके पास अब कुछ दिन या घंटे बाकी थे। मणिबेन उनके पीछे खड़ी उनकी अंग-रक्षा के ध्यान मे शान्त-चित्त निमग्न थी। उसको भविष्य की कोई चिन्ता नही थी। बम्बई पहुँचकर सरदार केवल तीन दिन जिन्दा रहे। 'मंगल मदिर' के द्वार खुल गए।

पर सरदार के प्राण निकले, तब भी मणिबेन ने अपना विवेक अक्षुण्ण रखा। दर्शकों की एक बडी भीड़ बिड़ला-हाउस में घुस आई और हर कमरे मे आदमी घुस गए। व्यवस्था-प्रिय मणिबेन को यह अव्यवस्था अखरी और सरदार के मृत शरीर को छोड़कर व्यवस्था-स्थापन मे लग गई। जब मित्रों ने कहा, "सरदार

का दाह चौपाटी पर होना चाहिए," तो उसने कहा, "मेरी दादी सोनापुर गई। बम्बई का हर गरीब सोनापुर जाता है, मेरा बाप भी और कहाँ जायगा !" फिर भी मित्रो ने आग्रह किया, पर मणिबेन अचल रही। आखिर दाह चौपाटी मे न होकर, सोना-पुर मे ही हुआ।

कथाओ मे पिता-भक्त पुत्र मिलते है। राम तो थे ही और श्रवणकुमार भी उसी श्रेणी के थे। पति-परायणा सावित्री, सीता और अनेक देवियाँ इस देश मे हो गई। भाइयो मे भरत का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। तुलसीदास ने कहा है, **जो न होत जग जनम भरत को, सकल धरम धुर धरनि धरत को** ! किन्तु पिता पर अनन्य निष्ठा रखनेवाली कुमारी मणिबेन-जैसी कोई दूसरी नही सुनी।

कल्पना भी एक अजीब चीज़ है। सरदार यदि गाधीजी से न मिले होते और अपना साहबी ठाट न छोडते तो क्या ? मणि-बेन भी शायद इग्लैड मे जाकर पढती; और जैसे अन्य सम्पत्ति-शाली लोगों की पुत्रियाँ अन्त मे शादी करके अपना गृहस्थ-स्था-पन करती है, वैसे ही वह भी करती। पर इससे देश को क्या मिलता ! असलियत तो यह है कि .

अधिष्ठानं तथा कर्त्ता<br>
करणं च पृथग्विधम्।<br>
विविधाश्च पृथक्चेष्टा<br>
दैवं चैवात्र पचमम् ॥<br>
न्याय्य वा विपरीतं वा<br>
पचैते तस्य हेतवः ॥

अर्थात्— इस संसार का गाडा अकस्मात् चलता है, चाहे उसे दैव कहे या ईश्वर !

## १२ | हीरा

वैसे तो मेरे जन्म के करीव पैंतीस साल पहले से हीरा हमारे यहाँ नौकर था, पर जब मैं तीन साल का हुआ, तभी से मैं उसे पहचानने लगा। शायद इससे पहले मै उसे पहचानने लगा होऊँ, पर उसकी आज मुझे कोई स्मृति नही है। इस हिसाब से मेरे लिए तो हीरा का जन्म उसी समय हुआ जवकि मै तीन साल का था, हालाँकि हीरा मुझसे करीव वावन वर्ष वड़ा था।

तो हीरा को जब मैंने पहले-पहल जाना, उस समय मुझपर उसकी क्या छाप पड़ी, यह वताना मेरे लिए टेढ़ा काम है। पर प्रयत्न करता हूँ तो मुझे फिर एक मर्तवा उस सुदूर और धुँधले अतीत मे प्रवेश करना पड़ता है और प्रवेश करने पर मुझे लगता है कि मैं एक ऐसे स्थान मे पहुँच गया हूँ, जहाँ चारो ओर केवल कुहरा-ही-कुहरा है। दस कदम के वाद तो—यदि हम काल को भी कदम से नापें तो—एक ऐसा प्रगाढ़, पर स्वच्छ और धवल अन्धकार है, जो लाख कोशिश करने पर भी हमारे स्थूल और सूक्ष्म चक्षुओं को विलकुल अंधे वनाये रखता है। पर यदि हम एक कदम आगे देखने का प्रयत्न करें तो सिवा धुँधलेपन के और कोई चीज सामने—अत्यन्त सामने—खड़ी है, उसे भी—जैसी है वैसी देखने के लिए—आँखे फाड़-फाड़कर एकटक देखता हूँ तो

भी उसकी रूप-रेखा स्पष्ट नही दिखाई देती। ऐसे उस सुदूर अतीत मे दृष्टि बेकार बन जाती है।

पर जो चित्र आँखो पर उस समय खिच गया है वह एक ऐसे फोटो की तरह है, जो किसी अनाडी चित्रकार ने खीचा हो और जिसे खीचने मे न तो उस चित्रकार ने कैमरे की दृष्टि को ठीक एकाग्र किया हो और न रोशनी ही सही दी हो। हम लाख उस चित्र की रूप-रेखा दुरुस्त करने की कोशिश करे, पर हमे उसमे कामयाबी नही होती। उस अतीत काल की स्मृति की एक ऐसे सपने से भी तुलना की जा सकती है, जो जिस समय आता है, उस समय तो साफ-सुथरा—सामने मानो नाटक खेला जाता हो और उस नाटक मे हम भी अभिनय करते हो—ऐसा लगता है, पर आँखे खुलते ही स्मृति फीकी पडने लगती है। और जब हम ससार के कोलाहल और दिन की धक्कामुक्की मे फँस जाते है तब तो वह चित्र हमारी आँखो से बिलकुल गायब हो जाता है।

बाल्यकाल के कच्चे दिमाग पर खिचा हीरा का वह धुँधला-सा चित्र। रूप-रेखा सारी अस्पष्ट और ऊपर समय की रफ्तार की घिसावट।

समय की रफ्तार तो मानो रात-दिन का अविच्छिन्न प्रपात। रही-सही रूप-रेखाओ को और भी धुँधला बना दिया। पर हीरा का चित्र तो फिर भी सामने खडा ही रहा। और जो चित्र पहले-पहल अस्पष्ट रूप से दिमाग के पटल पर पडा, वह फिर ज्यो-ज्यो पटल-चित्र आगे चला, स्पष्ट बनता गया। और बाद के चित्र ने पहले के चित्र की रूप-रेखाओ को स्पष्ट करने मे सहायता पहुँचाई। इस तरह हीरा का चित्र सुस्पष्ट वन

गया।

मैं वता चुका हूँ कि हीरा, जब उसे मैंने पहले-पहल जाना, तबतक बावन साल का हो चुका था और करीब पैंतीस साल हमारे यहाँ नौकरी करते भी उसे हो गए थे। मैंने बाद में सुना कि हीरा के माँ-बाप उसके बचपन मे ही मर गए थे और वह बचपन से ही हमारे यहाँ आकर नौकरी करने लगा था। हीरा को अपने बाल्यकाल की कोई स्मृति नही थी, पर उसका खयाल था कि उसके माँ-बाप सवत् १९०० के भयंकर दुर्भिक्ष में बिना अन्न के, भूख के मारे, मर गए थे।

स० १९०० और १९०१ ये दोनों साल अत्यन्त भीषण दुर्भिक्ष के थे। सुना है, इन दोनो सालो मे राजपूताना में लाखों मनुष्य, बिना रोटी, कुत्ते की मौत मर गए। चूँकि ये दोनों दुर्भिक्ष एक के बाद एक सटे आये, इसलिए लोगो ने इनका नाम 'सैया' और 'भैया' रखा। सवत् १९०० के दुर्भिक्ष का नाम पडा 'सैया' और सवत् १९०१ के दुर्भिक्ष का नाम 'भैया' पड़ा। इनकी भीषणता का खयाल दिलाने के लिए लोग आज भी गीतिका 'चाकी चाले रे सैया, माणस बोले रे भैया' गाते हैं, अर्थात् सैया और भैया की भीषणता के बाद "चक्की चलती है या तो मनुष्य अब भी बोल रहे हैं।" ऐसा कथन भी आश्चर्यजनक माना गया। हीरा का खयाल था कि इन्ही अकालों में उसके माँ-बाप मर गए। और सुना कि हीरा की नौकरी पहले-पहल हमारे यहाँ केवल एक रुपया माहवार थी। पर जब मैंने उसे जाना तब तो एक रुपया, खाने को रोटी और पहनने को कपड़ा भी मिलने लगा था। शादी तो हीरा ने की ही नहीं। माँ-बाप तो थे ही नहीं। इसलिए, हमारे कुटुम्ब को छोड़कर हीरा के

लिए और कोई ममत्व का स्थान नही रह गया था। हमारे कुटुम्ब को ही उसने आश्रय का स्थान माना और अन्त तक ऐसा ही मानता रहा।

जब मैने पहले-पहल हीरा को देखा, तब वह साठी के नजदीक पहुँच रहा था। बाल उसके किरड़काबरे हो चले थे। पर हीरा के मन मे बुढापे ने प्रवेश नही किया था। उसे अपने व्यक्तित्व का तो अभिमान था ही, उत्साह, उमग और आशा की भी उसमे कमी नही थी।

हमारे यहाँ उस जमाने मे दो ऊँट थे। अकस्मात् प्राय एक ऊँट काले रग का रहता था और एक सफेद रग का। काले को हम लोग कालिया ऊँट और सफेद को धोलिया ऊँट कहते थे। हीरा को ऊँटो का प्यार, यह वर्णनातीत वस्तु है। उसकी थाह तो, हीरा का ऊँटो की सार-सँभाल करते जिन्होने देखा है, वे ही जानते है। पर मैने यह देखा कि उन दो ऊँटो मे हीरा का ममत्व धोलिये पर ज्यादा रहा करता था। इसका कारण भी था। धोलिया ऊँट और यह भी अकस्मात् तेजस्वी और आकरे स्वभाव का होता था और हीरा को इसका खूब गर्व था, क्योकि ऐसे ऊँट हर टोले मे नही जन्मते थे। हीरा का ऊँट और ऊँटो से कुछ भिन्न है, उसकी अपनी अलग शान है, यह प्रकट करने मे हीरा कभी नही चूकता था। इसलिए वह जब ऊँट पर सवार होता था तो बेतकल्लुफी से नही। शायद उसने माना हो कि ऐसा करना यह धोलिये-जैसे प्रतिष्ठित ऊँट के लिए अपमान होगा। इसलिए ऊँट पर चढने से पहले गाढे का पाजामा और नैनसुख की (और अगर जाडे का मौसम हो तो रुईदार) कमरी, पॉवो मे चोबदार जरी की मोचडी, एक पॉव मे चॉदी का छैल-

कड़ा और ताँती, कमर मे तलवार और वगल मे सीगसाज—इन सब चीजो से सिंगरकर ही हीरा ऊँट पर चढता था। और सीगसाज भी पूरे दुरुस्त। कूपी मे बारूद, बटुए में पटाखा और दूसरे वटुए मे शीशे की दस-बीस गोलियाँ। बदूक भरी, सिर्फ दागने भर की देर। दाढी बीच मे फॉटकर, आधी एक कान पर से और आधी दूसरे कान पर से और कान के इर्द-गिर्द अढाई आँटे (यह माप भी हीरा ने बताया था) देकर बाँधी हुई। कानो मे सोने की वीरबली और गले में हनुमानजी की मूर्ति की सोने की तख्ती। दाढी पर जाडिया। सिर पर साफ़ा और साफे पर चद्दर का दुमाला मारे हुए।

इस साजवाज के साथ हीरा की शक्ल एक योद्धा की-सी लगनी चाहिए थी। पर अफसोस कि हीरा का कद ठिगना था, शरीर हलका। इसलिए लाख कोशिश करने पर भी हीरा जरा-सा 'माणस' लगता था। और ऊपर से यह दूसरा अफसोस कि हीरा राजपूत न था, जाट था। हीरा अपनी जात को वाहर अनजाने लोगो के सामने छिपाता भी था, पर लोग ताड जाते थे। इसका हीरा को दु:ख था। फिर भी अपनी शान बताने मे हीरा को कभी आलस्य नही होता था। और इस वेश-भूषा से सजने का भी शायद यही कारण था कि हीरा अपने गर्व को छिपाना नही चाहता था। पर एक वात का हीरा का गर्व बिलकुल मही था—धोल्या-जैसा ऊँट चोखले-भर मे ढिंढोरा फेरने से भी मिलना असम्भव था। इसलिए जब हीरा ऊँट पर चढता था, तब वह सातवे आसमान पर पहुँच जाता था।

वैसे तो धोलिया ऊँट हजारो में भी नही छिप सकता था, पर ऊँट की ख्याति छिपी न रह जाय, इसके लिए हीरा अहर्निश

सावधान रहता था। इसलिए जब ऊँट पर चढने का समय आता था तब तो हीरा के लिए सवारी एक असाधारण कृत्य बन जाता था। ऊँट की गोडी बाँधकर जब वह कूँची कसने की तैयारी करता, तो पहले ऊँट का मिजाज गरम करने के लिए वह ऊँट पर दो बेत जोर से फटकार ही देता था। बस, इतना किया कि ऊँट ने शुरू किया अरडाना। यह तो मानो लोगो को इकट्ठा करने का आह्वान था। सटक-सटक काम छोड़-छोडकर लोग हीरा के इर्द-गिर्द आ जमते थे, क्योकि हीरा का ऊँट पर चढना यह एक देखने लायक दृश्य होता था। ऊँट भी तो लाजवाब था। ऊँट की पीठ पर पान कटे हुए। उसके पहनने को नया मोहरा और बेलचा। उसके गले में कौडियो की पट्टी। नाको मे चाँदी की बाली और गिरबाण। कूँची के थडे बनाती। पागडे पीतल के, ऊपर लाल मजीठ की खोली चढी हुई। पूँछ बँधी हुई। कूँची पर सफेद स्वच्छ गद्दी। इस शान का ऊँट! और वह शान हीरे की! और ऊपर से यह सजावट!

जब कूँची माडी जा चुकती थी तब हीरा ऊँट को ठोकर मारकर खडा करता था। इसपर तो ऊँट और भी उग्र हो उठता था। अरडाना तो जोरो के साथ जारी था ही। उधर मीगणे और तरड़ा फेकना भी बेतरह शुरू हो जाता था। हो-हल्ला सुनकर गाँव के और भी लडके आ जमते थे। यह सब क्रिया हो चुकने पर हीरा ऊँट को गाँव के वाहर ले जाकर सवार होता था। एक आदमी ऊँट की गोडी दबाकर हीरा को सवारी करने मे सहायता देता था। हीरा सवार हुआ कि ऊँट फलाँग मारकर जोर से उछलता था।

उस समय हीरा का अभिनय तो कमाल का होता था। एक

तरफ तो ऊँट को मानो वह किसी जिद्दी, अड़ियल, उग्र लडके को शांत करता हो, इस तरह प्यार से सम्बोधन करता था, दूसरी ओर नकेल खीचकर ऊँट को रोकता था, तो तीसरी ओर ऊँट को छिपी ठोकर मारकर उसे दौडाने के लिए उकसाता था। इन तीन परस्पर-विरोधी क्रियाओ का ऊँट पर तो एक ही असर पडता था। आखिर ऊँट तो पशु ठहरा, और सो भी गँवार पशु। तो फिर हीरा के दुलार के सम्बोधन को ग्रहण करना उसके मस्तिष्क के बित्ते के बाहर की बात थी। हीरा इसे जानता भी था, पर हीरा की भाषा तो दर्शको के लिए थी, और ठोकर ऊँट के लिए। मोहरी खीचने का तात्पर्य यह था कि लोग समझे कि ऊँट हीरा के लाख शात करने पर उड़ जाना चाहता है और हीरा-जेसा उस्ताद चाबुक-सवार ही इसकी पीठ पर टिक सकता है।

पर इसके माने यह नही कि हीरा कोई साधारण सवार था, या उसका ऊँट कोई साधारण ऊँट था, क्योकि हीरा ने कई बार सुबह से शाम तक साठ कोस की मजिल आसानी से तय की थी।

और जितनी हीरा की चाबुक-सवारी, उतना ही उसका भूगोल का ज्ञान। हीरा दो-चार मर्तबा तो पिलानी से अहमदाबाद तक ऊँट पर ही जा चुका था। पर दो बेर जाने-मात्र से तो किसीको रास्ते का पूरा ज्ञान नहीं हो जाता। लेकिन हीरा की यह खूबी थी कि पिलानी से अहमदाबाद पहुँचने मे कौन-कौन-से गाँव से गुजरना पडता है, यह सब भूगोल, सविस्तार पचास साल के बाद भी, उसकी जीभ के अग्रभाग पर जमा पडा था। सौ-सवा सौ कोस की परिधि में तो ऐसा कोई शहर या गाँव नही, जिसके पहुचने के रास्ते का ज्ञान हीरा को न हो। "यहा से दो कोस पर फला गाँव, उसे बाएँ छोड देना। फिर फला जोहड आ जायगा।

उसके बाद एक कुआँ, फिर एक ऊँची भर " यह हीरा का रास्ता बताने का तरीका था। हीरा जहाँ नही गया, वहाँ उसने सुनकर उस स्थान का भूगोल जिह्वाग्र कर लिया था। इसी तरह हीरा बहुश्रुत भी बन गया था।

पर हीरा के दिल मे एक तमन्ना थी। उस जमाने मे चोर-धाडियो का खूब उपद्रव था। हीरा चाहता था कि कभी उसकी धाड़ियो से मुठभेड हो। हीरा का ऊँट तो हवा से बातें करनेवाला था ही। उसकी बन्दूक भी हाजिर-जवाब। घोडा दबाने भर की देर थी। लोग कहते थे कि हीरा का शरीर चाहे छोटा हो, पर उसकी बन्दूक कभी धोखा नही देगी। हीरा का दावा यह था कि वह एक चुस्त निशानेवाज है। पर उसने निशाने मारने के लिए एक बडे घडे से, जो दो-तीन फुट लम्बा-चौडा हो, छोटे निशान का कभी उपयोग नही किया, और हीरा निशाना मारने के लिए भी तो दस-पद्रह कदम पर ही बैठता था। जब गोली की चोट से घडा चूर-चूर हो जाता था तब तो हीरा मुलकता हुआ उठकर सबकी तरफ गर्व से ताकता था, मानो कहता हो—"बताओ है कोई ऐसा निशानेबाज !"

और एक दिन कुछ बन्दूकचियो से उसने बाजी मार भी ली। हीरा ने अपने साथियो को ललकार दी कि निकाले कोई लोहे के कडाहे मे से गोली। यह करतब न तो निशाने की अचूकता का द्योतक था, न हीरा की ताकत का प्रमाण। पर लोगो ने इस चुनौती को झेला। दगल मे हीरा की गोली तो दनदनाती हुई लोहे के कडाहे को छेद गई। औरो की गोलियाँ चिपटी होकर कडाहे से टकराकर गिर गई। प्रतिपक्षियो के चेहरे उतर गए। हीरा की छाती फूलकर सवा गज़ चौडी हो गई। कहनेवालो ने

हीरा के विरुद्ध विश्लेपण करने की कोशिश की, पर इतना तो साबित हो गया कि हीरा की बन्दूक पूरी फ़रमाबरदार है और मौके पर काम देगी। हीरा मे आत्मविश्वास की कमी तो थी नही। ऊँट और बन्दूक, इन दो के जोर पर हीरा यह मिन्नते मानता था कि उसे डाकू मिले, और अन्त में डाकू मिले भी, पर हीरा की हार हुई। लेकिन जिन दो चीजो पर हीरा का विश्वास था, उन्होने दगा नही दी। गीता मे कहा है :

**अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम्।**
**विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैव चैवात्र पचमम्॥**

हर काम मे क्षेत्र, कर्त्ता, भिन्न-भिन्न साधन, भिन्न-भिन्न क्रियाएँ और पाँचवाँ दैव, ये पाच हेतु होते है। मालूम होता है कि इन साधनों मे से कइयो ने तो हीरा के ख़िलाफ पड्यन्त्र ही कर लिया था कि उसका मान-मर्दन हो।

बात थी भिवानी के रास्ते की। कलकत्ते से एक सज्जन आ रहे थे, जो बीमार थे। उन दिनों पिलानी का रेलवे-स्टेशन था भिवानी। ये सज्जन भिवानी उतरनेवाले थे और वहाँ से उन्हे पिलानी आना था। हीरा को भेजा गया उन्हे भिवानी से पिलानी ले आने के लिए। भिवानी ठहरा अंग्रेजी इलाक़े में। इसलिए बिना पास कोई हथियार नही ले जा सकता था। हीरा ने लाख कोशिश की कि बन्दूक का पास मँगा लिया जाय, पर सब लोगों ने कह दिया—"क्या डर है, ऐसे ही चले जाओ।" बन्दूक हीरा की विश्वस्त सगिनी थी। वह उसे छोडकर अकेला नही जाना चाहता था, पर लाचारी!

हीरा बिना बन्दूक के गया सही, पर उसका मन उन्मना था। हीरा ने पीछे बताया कि जब वह सवार होकर भिवानी की ओर

चला, तब रास्ते मे उसे बिना तिलक-तोदवाला ब्राह्मण मिला। खुले केशवाली स्त्री, सो भी विधवा, मिली। घडेवाले के पास घड़ा रीता था। सोनचिडी बाएँ आ बैठी। गदहा दाहिने बोला। हरिन दाहिने से बाई ओर निकल गया और एक सुनार भी तो मिला। पर कर्तव्यवश हीरा ने इन सबकी अवहेलना की।

हीरा भिवानी पहुँचा और उन सज्जन को सुबह गजरदम ऊँट पर पिछले आसन पर बैठाकर पिलानी की ओर चला। हीरा का कहना था कि जब भिवानी से चला तब भी सारे अपशकुन हुए और बायाँ अंग भी फडका। सुब्रह पौ फटते-फटते हीरा इन्दोखले जोहड के पास पहुँचा और उसने देखा कि सात ऊँट, उनपर चौदह जवान, सबके पास बडे-बडे लट्ठ, हीरा के ऊँट को चारो ओर से घेर रहे है। हीरा ने देख लिया कि दाल मे काला है। पर तो भी उसने ललकारकर डाकुओ से कहा, "माई के लालो, मगा तुम्हारी खराब मालूम होती है। क्या बात है ?" उन्होने कहा, "हमारे ऊँट खो गए है। उनकी खोजो के पीछे हम आये है।" हीरा को विश्वास नही हुआ। पिछले आसन पर बैठे सज्जन से हीरा ने कहा, "भरोसा एक ही है, वह है मेरा ऊँट। एड मारने-भर की देर है, फिर तो ऊँट उडेगा। आप सावधान होकर मेरी पीठ से चिपक जाइये और मै ऊँट को टिचकारी देता हूँ। इस ऊँट को कोई नही पहुँच सकता।" पर पीछेवाले सज्जन ने कहा, "हीराजी, मै इतना बीमार हूँ कि ऊँट ने जरा भी तेजी दिखाई कि मै धम से नीचे गिरूँगा। इसलिए मेरे प्राण जायँ, इससे तो बेहतर है कि हम लुट जायँ।"

हीरा ने देख लिया कि बस होनहार बलवान है। उसने अपना लट्ठ सँभाला। ऊँट पर से कूदा और ललकारा डाकुओ

को ही। हीरा का विसात ही क्या था ! छोटा-सा शरीर। उसने लाठी का वार किया, एक-दो लाठी चलाई भी, पर दो-एक लट्ठ हीरा के सिर पर लगे कि हीरा जमीदोज हो गया। डाकू ऊँट ले गए।

हीरा के सदमे का क्या ठिकाना ! बन्दूक पीछे रह गई। ऊँट धाड़ी ले गए।

जबतक हीरा जिन्दा रहा, तबतक इस रासे को वीर और करुण मे वर्णन करता ही रहा। इस कथा को कहते-कहते हीरा रो भी देता था। पर वह कभी थकता न था। क्या तमन्ना थी और कैसा हुआ अन्त ! हीरा का दिल टूक-टूक हो गया। हीरा फिर भी ऊँटो पर चढा, बन्दूक भी लटकाई, पर उसका दिल तो टूट चुका था। लोग भी तो ताना मारने मे कहा बाज आते थे, पर हीरा को रह-रहकर पछतावा होता था, "मैने बन्दूक साथ क्यो न ली ? मैने ऊँट को टिचकारी क्यों न दी ?"

इसके बाद हीरा कुछ ही साल और ऊँट पर चढा। वैसे भी साठी पार कर चुका था, और ऊपर से प्रतिष्ठा का भग। उस घटना के बाद भी ऊँटो पर कई बार भिवानी गया-आया, पर उदासी के साथ। जब-जब वह इन्दोखले जोहड़े मे से निकलता था तो अपना बखान करते-करते वह रो देता था। वह लाख लोगों को समझाये, पर हीरा ने शिकस्त खाई, इस कथन को कौन मेट सकता था ! हीरा कवि न था, पर इन्दोखले जोहड़े की तरफ मुँह करते ही उसका दिल कह देता था :

मत नाव इधर लेजा माँझी, उस घाट को मैं पहचानता हूँ ;
फूँकी थी वहीं पर मैंने चिता अपनी मरहूम तमन्ना की।

हीरा ने समझ लिया कि अब ऊँटों की सवारी मे कोई लुत्फ

नही, और हीरा ऐसा आदमी भी नही जो अपने क्षेत्र मे स्वल्प श्रेष्ठ होकर रहे। वह तो था गर्वीला। सर्वश्रेष्ठ होकर ही रहना चाहता था। "अबतक तो जिस जमी पै रहे आसमाँ रहे।" इसलिए हीरा ने अब अपना क्षेत्र वदलना निश्चय किया। धीरे-धीरे उसने ऊँटो का ममत्व और जिम्मा छोड दिया। एक रोज अचानक देखा गया कि हीरा ने दाढी और पट्टे दोनो सफा करवा डाले। धीरे-धीरे उसने योद्धा का स्वाँग छोडना शुरू कर दिया।

हीरा था बडा मितव्ययी। साठी पार करने तक तो उसके पास पाँच सौ की पूँजी जुट गई थी। एक रुपया माहवार की आमद पर भी वह पूँजीपति वन गया था। पर हीरा दिल का भी तो शाह ही था। इसलिए अब उसने अपना खजाना खाली करने का प्रण कर लिया। कान की बीरवली और पाँवो के चाँदी के कडो से उसने दान का श्रीगणेश किया। फिर तो धीरे-धीरे अपनी और पूँजी भी लुटाने लगा और अन्त मे उसने अपना सारा कोष खाली कर दिया। पर इस बीच मे तो हीरा की नौकरी एक रुपया माहवार से दो रुपया माहवार हो गई और इनाम भी समय-समय पर मिलता था। इसलिए हीरा फिर पूँजीपति वनने लगा। पर हीरा की तमन्ना अब केवल एक ही थी। वह थी कर्ण-सा दानी वनने की। हीरा की व्यवस्था और मितव्ययिता इस आला दरजे की थी कि उसके पास पचास साल पहले के अपने कपडे, कम्बल, चद्दर, अँगरखी, इनाम मे पाया हुआ शाल, हाथो की सोने की चूड—ये सब चीजे ज्यो-की-त्यो मौजूद थी। पचास साल पहले के दो-एक वेत भी ज्यो-के-त्यो सुरक्षित थे।

हीरा के रहने की एक कोठरी थी, जिसे हम हीरा की कोठरी कहते थे। उस कोठरी की लम्बाई छ फूट, चौडाई तीन फुट, और

ऊँचाई छ फुट थी। जगह का अभाव न था, पर हीरा ने इसी कोठरी को अपना स्थायी स्थान बनाया और यह कोठरी क्या थी, गागर मे सागर था। व्यवस्था का एक जीता-जागता चित्र। इस कोठरी मे खूँटियो पर बाकायदा हीरा के हथियार लटकते रहते थे। एक खटिया थी। उसके नीचे हीरा के तमाम कपडे, तमाम पोशाके थी। न मालूम और कितना सामान था। हीरा ने अब धीरे-धीरे अपनी सारी चीजो का भी दान करना शुरू कर दिया था, और एक-एक करके हीरा ने अपनी तमाम बुगची में से सब कपडो को वितरित कर दिया। सोने की तख्ती भी दान मे दे डाली। अब हीरा के पास पहनने-भर के कपडे रह गए।

इतना हुआ, पर हीरा की सजावट मे कोई फर्क नही आया। पहले योद्धा का स्वाँग सजता था और अब साधारण नागरिक का। पर वही पुरानी स्वच्छता, वही दिन मे दो बार नहाना, वही दो बार कपडे बदलना। कपडे धोने की कला तो हीरा को हस्ता-मलकवत् थी। इसलिए सफाई मे हीरा से कोई बाजी मार ही नही सकता था। धुलाई मे उसकी शोहरत यहाँ तक फैल गई थी कि जब कोई बेशकीमती शाल धुलवाना होता तो वह हीरा के सुपुर्द किया जाता।

तो हीरा ने फिर दूसरी बार कोष खाली करना शुरू किया, और अन्त मे सबकुछ दे ही तो डाला।

बुढापा तो आता ही जाता था। अब तो हीरा ने सत्तर पार कर लिया था। आँखो की ज्योति कम हो चली थी। हीरा ने अब माला हाथ में ले ली। पर शाम को जब टहलने निकलता था तब कुछ तो सजावट रहती ही थी, हाथ मे माला और बेत भी रहते थे। कन्धे पर एक स्वच्छ गमछा। दूसरे कन्धे पर गर्मियो में धुली हुई

कमरी पडी रहती थी और यह बताती थी कि हीरा के पास कमरी है, पर गर्मी की वजह से वह उसे पहनता नही है।

हीरा की पूँजी फिर बढने लगी और दान भी बढने लगा। दिन बीतते जा रहे थे। अब हीरा अस्सी पार कर गया। शक्ति धीरे-धीरे घटती जा रही थी।

उन दिनो की जब मै याद करता हूँ तो हीरा का एक ही चित्र मेरी आँखो के सामने आता है। स्वच्छ कपडे पहने, हाथ मे माला लिये हीरा हवेली के गोखे पर बैठा है और 'राम-राम' कर रहा है। हीरा का अब किसी चीज मे ममत्व नही रहा। पर इन्दोखले जोहडे की धाड को हीरा भूल नही सका, और न भूला वह धोलिये ऊँट को। यदि कोई इसकी चर्चा कर देता था तो हीरा एक बेर माला को ताक पर रखकर उस पुराने रासे को रस के साथ वर्णन करते-करते उसमे तल्लीन हो जाता था। पर इस चर्चा को छोड उसे और किसी चीज मे ममत्व नही रहा, और माला तो उसकी दिन-रात चलती ही रहती थी। अब हीरा ने देख लिया कि अन्त आ गया। ऊँटो की कई यात्राएँ हीरा ने की थी। अब उसकी जीवन-यात्रा का भी अन्त हो चला था, ऐसा जानने मे हीरा को कोई कठिनाई नही हुई। चौरासी साल तक हीरा ने अपने भौतिक शरीर मे वास किया। एक दिन हीरा ने अपना जीवित श्राद्ध करके फिर तीसरी बार अपना कोष खाली कर दिया और उसके कुछ ही दिन बाद चल बसा।

क्या शान की जिन्दगी हीरा ने बसर की ! हीरा का न कोई रासा है, न कोई महाभारत है, पर हीरा का शौर्य किस वीर से कम रहा ! अभिमन्यु की शोहरत इसलिए फैली कि वह अकेला व्यूह मे घुस गया और वीरोचित मृत्यु का उसने आलिगन किया।

पर हीरा भी तो अकेला चौदह से लडा। यदि जीता नही तो उसमे हीरा का क्या दोष !

और दान भी तो कर्ण से क्यो कम ! कर्ण का महाभारत मे बड़ा स्थान है। और हीरा का कोई ग्रन्थ नही बना, इसी बुनियाद मे हीरा परख मे कम नही उतर सका। तीन बार हीरा ने अपना खजाना खाली कर दिया। यह उदारता कर्ण से किस बात मे कम उतरती थी ? और हीरा की वफादारी तो लाजवाब। बडे-बडे श्लोको से भरे ग्रन्थो से चौधिया जाने से यदि हम इन्कार करे तो मैं कहूँगा कि हीरा का शौर्य, उसकी दान-शूरता और उसकी वफादारी बेमिसाल चीजे है।

हीरा मर गया। उसकी छोटी-सी स्मृति हरपाणे जोहडे मे एक कुई और एक कोठरी के रूप में आज भी खडी है। बड़े-बड़े स्मारको के सामने यह तुच्छ यादगार नाचीज है, पर इसके पीछे जो शान है, उसकी भी तो कोई वुकत है ' यदि इस यादगार मे जिदा जवान होती तो वह कह उठती :

यहाँ सोता है एक तुच्छ प्राणी,
जिसका शरीर था रूपे का,
जिसका सिर था सोने का,
और जिसका दिल था हीरे का।

जनवरी, १९४१

१३

# नाहरसिंह

नाहरसिह एक छैल-छबीला राजपूत था। जवानी की उमग मे जब वह बन-ठनकर दुपहरिया की चहल-कदमी करने गाॅव की गलियो से गुजरता, तो वह समझता था कि उसके जैसा और कोई बाॅका जवान दुनिया छानने पर भी मिलना दुर्लभ है। हालाॅकि नाहरसिह खूबसूरती से कोसो दूर था, बल्कि यह कहना चाहिए कि कुछ बदसूरती की तरफ ही लुढक थी, पर उसे इतना गर्व था कि वह अपने-आपको बेनजीर मानता था।

खूबसूरती की उसमे जो कमी थी, उसे वह सजावट के ढक्कन से ढाॅककर पूरा करने की कोशिश करता रहता था। खासी सफेद दो छिरगेदार धोती, कलीदार कोट, सिर पर साॅगानेरी साफा, पाॅव मे बूॅटेदार चोबकारी का जूता, हाथ मे एक अच्छी-सी बरछी, कधे पर साॅग। इस सजावट के साथ नाहरसिह दुपहरी मे चमचमाते हुए नये जूतो मे गलियो मे अपनी शान और सजावट का प्रदर्शन करते हुए जब टहलने निकलता तो मानो कहता था—

**कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ?**

उस जमाने के निकम्मे आवारो का यही क्रम था कि सुबह को खाकर सो जाना और दुपहर मे उठकर चहलकदमी के लिए निकल पडना। यह कहना चाहिए कि ऐसे ठलुओ की सुबह दुपहरी

के बाद ही शुरू होती थी। नाहरसिह भी उन्ही आवारो मे से एक था।

नाहरसिह दाढी रखता था। सवेरे खा-पीकर दाढी पर जाडिया और मूँछ-पाटी कसकर खटिया पर सो रहता और दिन-ढले जाडिया खोलता था। जब जाडिया खोलता तो दाढ़ी के बाल नियमबद्ध चारों ओर बिखरकर इस तरह खिलाव खाते थे, मानो देवदार की पैनी और दृढ पत्तियाँ नोको द्वारा चारो ओर मुँह फैलाकर दिग्दर्शन करती हो।

वह खिली हुई दाढी, वह सजावट और वह कुरूपता, इस सामग्री को लेकर जब नाहरसिह जमीन पर कदम रखता था तो शायद कहता था—"धरती परे सरक जा, छैला पाँव धरेगा।"

नाहरसिह से लोग डरते भी थे, क्योकि वह शस्त्र-सुसज्जित, गैरजिम्मेदार और हर समय झगडने पर उतारू रहता था।

नाहरसिह अविवाहित था और जैसा कि ऐसे आवारा लोगो का क्रम होता है, उसकी एक विधवा से लाग-फाँस हो गई। गाव के लोग इस बात से नावाकिफ नही थे। विधवा के कुनबे के लोगो को भी इस लगावट का ज्ञान था, पर किसकी हिम्मत कि नाहरसिह से कोई झगडा मोल ले!

कुदरत का नियम है कि क्रिया होती है तो प्रतिक्रिया भी होती है। इस नियम का कोई अपवाद नही होता। जहाँ एक गुडा होता है, वहाँ उसकी प्रतिद्वंद्विता मे और गुडे भी पैदा हो जाते है। इस न्याय के परिणामस्वरूप नाहरसिह की प्रतिद्वंद्विता मे एक और बाँका जवान निकल आया, और वह था एक मुसलमान। उसका नाम था मोहम्मद खाँ। वह भी उसी विधवा के घर पहुँ-

चता था। नाहरसिह को और उस विधवा के रिश्तेदारो को उस मियाँ का आना-जाना काफी अखरता था। रिश्तेदारो की हिम्मत नही पडी कि कुछ बोले, इसलिए आँख-मिचौवल किये बैठे रहे, पर नाहरसिह को मोहम्मद खाँ का यह खाका सहन नही हुआ। इसलिए उसने उसे चुनौती दी कि वह उसके सुरक्षित क्षेत्र से दूर रहे, वरना उसे भुगतना पडेगा। पर मियाँ को भी अपने बाजू और सीने पर भरोसा था। वह हटा नही। उसने नाहरसिह को दुत्कार बताई और अपना क्रम जारी रखा। नाहरसिह आगबबूला हो उठा। अन्त मे नाहरसिह और उसके एक रिश्तेदार ने मिलकर मोहम्मद खाँ की नाक काटने की योजना रची।

कई दिनो तक वे लोग इसी टोह मे रहे कि मौका मिले तो नाक पर चाकू की आजमाइश हो, और अन्त मे मौका मिल ही गया। एक रात को जब मोहम्मद खाँ उस विधवा के घर से निकलकर अपने घर जा रहा था, इन लोगो ने एक सुनसान जगह पर उसे घेर लिया और धर पटका जमीन पर। एक ने उसके पाँव पकडे और नाहरसिह उसकी छाती पर बैठकर लगा नाक काटने का प्रयत्न करने। पर चाकू भी उनको मिला तो ऐसा कि बिलकुल भूठा। लाख प्रयत्न करने पर भी नाक पर घाव नही मार सका। चिल्लाहट हुई, पर रात का समय और सुनसान जगह, इसलिए किसीने सुनी तो भी अनसुनी कर दी। इसी खीचातानी मे मियाँ साहब का गला मर्यादा से कुछ ज्यादा दब गया और किस्सा समाप्त हुआ किसी और ही दिशा मे। चाहा था नाक नदारद करना, सो तो दारद रही, और बदले मे जान नदारद !

नाहरसिह और उसका साथी दोनो धारणा के विपरीत परि-

णाम देखकर सन्न हो गए। कुछ देर दोनो झगडते रहे कि किसकी ग़लती हुई, अन्त मे नाहरसिह ने सफाई दी कि चाकू भूठा था, इसलिए गला दबाना जरूरी समझा गया। जो परिणाम हुआ, वह वेवसी के कारण। दोनो ने अपने-आपको लाचार माना।

जव नाहरसिह और उसके साथी ने देखा कि नाक तो रह गई और शिकार खत्म हो गया तो सवाल यह पैदा हुआ कि अव करना क्या ? कुछ अपने जानी दोस्तो से सलाह भी की। अन्त में कुछ योजना सोची गई और मुर्दे को उठाकर वे उसके घर पर चुपचाप खटिया पर सुला आए और सुवह क्या जाल गूँथना, उसका विचार करने लगे।

सुवह हुई। गॉव मे शोर मचा कि फलॉ मियॉ अचानक मर गए। आसपास के पडौसी, किलेदार और थानेदार उसके घर पहुँचे। किसीको पता नही कि हुआ क्या। एक हट्टा-कट्टा जवान जो कल तक मूँछो पर मूँछ-पट्टी चढाये फिरता था, आज एका-एक अल्लाताला के घर कैसे पहुँच गया !

गॉव के ठाकुर का प्रतिनिधि किलेदार कहलाता था। उसका मुकाम भी पिलानी के गढ मे था। किलेदार राजपूत था और उसे नाहरसिह की करतूत का पूरा पता था। पर वह अपने जात-भाई को वचाना चाहता था। इसलिए उसने कुछ तिकडमवाजी रची। किलेदार ने थानेदार को अपना अनुभव प्रमाण मे वताकर यह समझाया कि मियॉ को पाटडा गोह ने काट खाया और उस गोह के विष से वह मर गया है।

उस जमाने के लोगो का ज्ञान इतना अधूरा और वेसिर-पैर का था कि सभी लोग यह मानते थे कि गोह एक विषैला जीव होता है, यद्यपि अव तो लोगों को पता चल गया है कि गोह

महज एक छिपकली की जाति है और विषैली नही है, लेकिन किलेदार की अक्ल और उसका अनुभव, यह भी तो एक वजनी चीज थी, जिससे गोह के पक्ष मे पल्ला और भी झुक गया। सबने हॉ-मे-हॉ मिलाई। कुछ उत्साही खुशामदियो ने गोह के बिल का भी पता बता दिया। खोजी ने खोज निकालकर, गोह किधर से आई और किधर गई, उसका भी सारा किस्सा बताकर अपने इल्म की नुमाइश कर दी। गॉव के मूर्खो ने भी मतीरा-सा सिर हिलाकर कह दिया—"हॉ साहब, गोह ने काटा है।" गोह के विष से मृत्यु साबित हुई और मियॉ को कब्र के सुपुर्द किया। इस तरह खून का किस्सा एक बार तो समाप्त हुआ।

इसमे नाहरसिह की कमबख्ती यह हुई कि मृतक मुसलमान था। हिन्दू होता तो जलाकर प्राण के साथ शरीर भी खत्म हो गया होता, पर मुसलमान होने की वजह से प्राण तो गये, पर शरीर बाकी रह गया था। वह शरीर मृतक भी क्यो न हो, खून का साक्षी तो था ही। इसी साक्षी ने नाहरसिह की बरबादी की।

मै उन दिनो पचीस वर्ष का था। मुझे पता लग गया कि यह मियॉ का खून हुआ है, जो जान-बूझकर दबा दिया गया है। नाहरसिह के चरित्र और उसके आवारापन से भी मुझे नफरत थी। गॉव मे उसकी और भी कई शिकायते थी। इसलिए एक खूनी इस तरह बेदाग बच निकले, यह मुझे अखरा। खून के बाद भी नाहरसिह की चहलकदमी उसी क्रम से जारी थी। "वही रफ्तार बेढगी जो पहले थी सो अब भी थी"—यह नाहरसिह का हाल था।

थानेदार निरा बुद्धू था और किलेदार शिवनाथसिह ने उसे और भी उल्लू बना दिया। पर उसके नीचे मुशी बनवारीलाल

था। वह था बड़ा चलतापुर्जा। मुशी बनवारीलाल की जब-जब तरक्की की बात चली और जयपुर-सरकार ने उसे बड़े ओहदे पर भेजने का प्रस्ताव किया, तब वह यह कहकर इन्कार कर गया कि —"मुझे इसी ओहदे से सतोष है। मुशीगीरी से विश्राम पाने पर मैं काशी-वास करूँगा और भजन-स्मरण मे ही जीवन व्यतीत करूँगा।" मुशी बनवारीलाल का दावा था कि वह एक सिद्धान्त का आदमी है। वह मानता था कि वह रिश्वत जरूर लेता है, पर जुर्म करनेवाले से नही। रिश्वत लेता था भुगतनेवाले से, और रिश्वत लेकर न्याय करता था, अर्थात् सजा पानेयोग्य को सजा और रक्षा-योग्य को रक्षा दिलाता था।

मुझसे कहा करता था, "बाबू साहब, मैंने रिश्वत जरूर ली, पर भले का पक्ष करके। रिश्वत भी मै उसूलन लेता हूँ।"

लोग चाहे इस उसूल पर हँसे, पर बनवारीलाल को पूर्ण श्रद्धा थी कि इस काम मे ईश्वर भी उससे सहमत है।

इस तरह रिश्वत लेकर उसने बीस-तीस हज़ार इकट्ठे कर लिये थे। पर उसने अपनी बात निवाही। मरने से पहले उसने अपनी सारी सम्पत्ति दान-पुण्य मे खर्च करने के लिए ट्रस्ट को सौंप दी और मुझे ही एकमात्र ट्रस्टी बनाकर चल बसा। ट्रस्ट का मजमून भी उसने अपने-आपही लिखा था। उस मज़मून का आरम्भ इस तरह था—"जिन्दगी का भरोसा नही और ज़माना नाजुक है, इसलिए लिख दिया है मैंने यह वसीयत···।" यह 'नाजुक' जमाने की दुहाई देने की परिपाटी सदा से रही है, जो आज भी प्रचलित है। जमाना कब नाजुक नही था, यह मैंने अबतक किसी से नही सुना। अब भी बनवारीलाल के ट्रस्ट से गिलानी मे छात्र-वृत्ति दी जाती है। खैर, यह तो विषयांतर हुआ।

पर बनवारीलाल, जैसा कि मैंने कहा है, था वडा चलता-पुर्ज़ा। इसलिए थानेदार की अवहेलना करके मैंने उसे बुलाया और बताया कि मियाँ का ख़ून हुआ है और यह सारी कार्रवाई बनावटी है। सजायाफ़्ता को सज़ा न मिले तो फिर गुडेपन का कोई अन्त नही। मुंशी ने कहा—"बात सच है। मै रजामद हूँ। पर बाकायदा 'रपट' जबतक नही आती, तबतक मै लाचार हूँ।" 'बाकायदा' यह भी एक सरकारी वेद समझना चाहिए। और 'रपट' का महत्त्व भी नही भूलना चाहिए। इसलिए 'रपट' का इन्तजाम करना पड़ा। 'रपट' होते ही मुशीजी की चक्की चलने लगी। कब्र खोदकर मियाँ की लाश को बाहर निकाला गया, डाक्टर बुलाया गया और मुर्दे का पोस्ट-मॉर्टम हुआ। पोस्ट-मॉर्टम मे साबित हुआ कि मियाँ गला घोटकर मारा गया था। बस, ख़ून साबित होते ही गिरफ़्तारियाँ शुरू हुई।

उस जमाने मे कैदी को हवालात मे वन्द नही करते थे, बल्कि काठ मे दे देते थे। हवालात-जैसी फिजूलख़र्ची से लोगों को और सरकार को बडी नफरत थी। इसलिए हवालात के स्थान पर काठ की सस्था प्रचलित थी। हवालात यह सनकी सरकार की सनक की निशानी मानी जाती थी। एक बड़ा लक्कड होता था, जिसके ऊपर-नीचे के दो पाट होते थे और बीच मे पाँव डालने के कई छेद। उन छेदो मे दोनो पाँव डालकर लक्कड का ऊपरी सिरा ताले से वन्द कर दिया जाता था, जिससे कैदी के दोनो पाँव उन छेदो मे इस तरह जकडवन्द हो जाते थे कि कैदी भाग न सके। एक-एक काठ मे पाँच-पाँच आदमी तक जकड़ दिए जाते थे। न जरूरत रहती थी हवालात की और न वेडी की।

जितने आदमियो को पकड़ा, उन सवको खुले मैदान मे पडे हुए काठ मे डाल दिया गया। यह तरीक़ा वड़ा क्रूर था, पर उस जमाने का यही सनातन धर्म था। इसकी क्रूरता का तो किसीको खयाल ही नही होता था। कैदी खुले मैदान में काठ मे पडा रहता था। घरवालो और मिलने-भिटनेवालो को कोई मुमानियत नही थी। सारी चीज सीधी-सादी, कम खर्चीली प्रतीत होती थी। इसमे कोई ऐब है, ऐसा किसीने नही वताया, और जिसने वताया उसको ही ऐबी माना गया।

उस समय की प्रथा के अनुसार नाहरसिह के दोनों पाँव काठ में डाल दिये गए। काठ मे जकड़वन्द नाहरसिह को उसके घर-वाले रोटी खिला जाते थे। चिलम-तम्बाकू की आवभगत भी होती थी, जिसमे पुलिस और कैदी दोनो शरीक होते थे। गपशप तो चलती ही रहती थी। पर तो भी आखिर काठ तो काठ ही है। नाहरसिह तीन रात और दिन लगातार काठ मे पडा रहा। खाना भी उसको जव दिया जाता, तव पाँव काठ मे ही रहते थे। पाखाना जाने के लिए ही छुट्टी मिलती थी। जाहिर है कि ऐसी वेदना कड़े-से-कड़े दिल को भी हिला देती है।

नाहरसिह का भी यही हाल हुआ। नाहरसिह ने सोचा, आखिर कैदखाने मे इससे ज्यादा और क्या परेशानी हो सकती है। फिर कैद को ही दावत क्यों न दी जाय।

जव यह कष्ट असह्य हो चला तव अन्त मे नाहरसिह की मर्दानगी भी काफूर हुई। दो-चार थप्पड भी पडे और थप्पड पडते ही नाहरसिह ने सारा किस्सा स्वीकार कर लिया। अदालत में मुकदमा चला। उन दिनो की अदालत मे 'सेशन' और 'जूरी' का झमेला नही था। 'नाजिम' अपनी वुद्धि से मुक़दमे को समझ

लेता था। गद्दी और मसनद के सहारे बैठकर इजलास होता था और नाजिम अपना फैसला सुनाता था। नाहरसिह का मुकदमा भी इसी क्रम से हुआ। अन्त मे नाजिम ने फैसला दिया और नाहरसिह को जनम-कैद की सजा सुना दी गई।

जबतक हमे स्वतत्रता नही मिली, तबतक जयपुर मे फाँसी की सम्पूर्ण रोक थी। चाहे कितना ही बडा जुर्म क्यो न हो, किसी भी जुर्मी को तबतक फाँसी नही हुई। इसलिए नाहरसिह को भी जनम-कैद की ही सजा हुई। सजा होते ही उसे वहाँ से चालान करके जयपुर की जेल मे जनम-कैद भुगतने के लिए भेज दिया गया।

जेल मे पहुंचते ही नाहरसिह की दाढी-मूँछ मूँड दी गई और कैदी के कपडे दे दिये गए।

नाहरसिह ने स्तब्ध होकर नये भेष को धारण तो किया, पर उसे विश्वास नही हुआ कि वह नई दुनिया मे आ गया है। नाहरसिह रो पडा। अपनी पुरानी जीवनी की याद उसे सताने लगी—"कहाँ वह मेरा बाँकापन, कहाँ मेरी दाढी, कहाँ मेरा जाडिया और कहाँ यह मुडन और यह नया भेष और ऊपर से पाँव मे बेडी।"

कुछ दिनो तक तो नाहरसिह पागल-सा हो बैठा। भीतर-ही-भीतर आग धधकती थी। मुशी बनवारीलाल ने आश्वासन दिया था—"गुनाह मजूर कर लो, फिर सब तरह से तुम्हारी मदद करूँगा।" उसने धोखा दिया। मदद के बजाय यह जनम-कैद करवा दी। पर अब कोई सुननेवाला भी नही। जरा चीं-चपड करो तो मार पडती है। भीतर आग को बुझाने के लिए पानी था, वह भी आँसू होकर बह गया, इसलिए आग धधकती

ही रही ।

नाहरसिह का रोना जारी रहा । वह शायर तो नही था, पर उसकी आहे शायरी का स्रोत बन कर बहने लगी :

**आता है याद मुझको**
**गुज़रा हुआ ज़माना ।**
**जब से चमन छुटा है**
**यह हाल हो गया है ।**
**दिल ग़म को खा रहा है,**
**गम दिल को खा रहा है ।**
**आज़ाद मुझको कर दे**
**ओ क़ैदखाने - वाले ।**
**मै बेज़बाँ हूँ कैदी,**
**तू छोड़कर दुआ ले ।**

पर आजाद कौन करे ! नाहरसिह जब रो-रोकर थक गया तो उसका उद्वेग शिथिल हो चला । गम दिल को खा गया और दिल गम को खा गया । जबाँ बेजबाँ हुई । अब रोना बन्द हुआ ।

कैद के आश्रय से पहले मन मारकर, फिर धीरे-धीरे सहिष्णु होकर, समन्वय करने लगा । पिछले जमाने को भूलने लगा । "सबका चहचहाना" और चिड़ियो का चहचहाना यहाँ भी था । उसीसे गाँठ बाँधी ।

जब नाहरसिह जेल मे कुछ शान्त हुआ तो मै उससे मिलने गया । मैंने कहा, "नाहरसिह, आखिर तुमने एक प्राणी की हत्या की है, अब तुम्हे सजा भुगतनी है । उसे रो-रोकर क्यो भुगतते हो ? खुशी-खुशी क्यो न भुगतो ! बहादुरी इसीमे है

कि ईश्वर ने जो भेजा, उसे सिर चढाकर मजूर करो। यहाँ भुगत लोगे तो आगे की छुट्टी है।" नाहरसिह को शाति मिली, और जेल के जीवन से मैत्री करने लग गया।

जेल के सुपरिटेडेट मेरे मित्र होते थे। मैने उनसे बात करके नाहरसिह को कुछ सुविधाएँ भी दिलवा दी। जेलर की सिफारिश से नाहरसिह को गलीचे बुनने का काम सिखाया जाने लगा। नाहरसिह उद्योग मे कुशल निकला और जल्दी ही वह गलीचा बुनना सीख गया। इसके अलावा और भी दो-चार हस्त-कौशल के उद्योग उसने सीख लिये। नाहरसिह दक्ष हो गया और इस लायक वन गया कि वह जेल के वाहर आकर अच्छी तरह अपनी जीवन-यात्रा सँभाल सके। मगर नाहरसिह था पूरा उपद्रवी।

कुछ काल के बाद जेल के एक वार्डन से झगडा करके उसकी नाक को वह दाँतो से चबा गया। सम्भव है, मनोवैज्ञानिको की कल्पना के अनुसार नाहरसिह का नाकों से कोई नाता रहा हो, या फिर कोई ग्रह ऐसा पडा हो, जो नाहरसिह को नाको की ओर आकर्षित करता रहा हो। पर वार्डन की नाक की घटना ने इतना तो प्रमाणित कर दिया कि नाहरसिह नाक ढूँढता फिरता था। मियाँ की नाक न सही तो वार्डन की ही सही। नतीजा यह हुआ कि नाक चबा जाने के अपराध मे उसकी जेल की मियाद बढ गई। पर नाहरसिह की औद्योगिक शिक्षा तो जारी थी ही। इस तरह साढे वीस साल तक नाहरसिह जेल मे रहा और जव जेल से वाहर निकला तो सौम्य होकर, कई उद्योगो मे कुशल होकर ही निकला।

जवतक जेल मे रहा, नाहरसिह से मेरा सम्पर्क जारी था।

इसलिए जेल से निकलते ही वह मेरे पास आया। फटे कपड़े पहने था, पाँव में बीस साल तक वेड़ियाँ पड़ी रहने की वजह से कदम छोटे हो गए थे और दाढी भी नदारद थी। नियंत्रण के आने के कारण उसका पुराना औद्धत्य चला गया था और वह विनम्र हो गया था।

मैंने पूछा, "कहो नाहरसिह, कैसे हो ? अब क्या करना है? कमाकर तो खाना ही है, फिर सोच लो, क्या करोगे ?"

नाहरसिह ने कहा, "बाबूजी, मै बीस साल तक महाराजा माधोसिहजी का मेहमान रहकर आया हूँ, अब किसी छोटे-मोटे का मेहमान नही रह सकता। हाथी पर चढकर गदहे पर कैसे बैठूँ?" उन दिनो जयपुर के महाराजा माधोसिहजी थे। मुझे उसकी चुटकी पर हँसी आई। नाहरसिह की ओर मेरा आकर्षण तो था ही। इसलिए मैंने उसे अपनी शिल्पशाला मे विद्यार्थियो को गलीचा बुनना सिखाने के लिए मास्टरी के पद पर तैनात कर दिया। नाहरसिह ने अच्छे-अच्छे गलीचे बनवाये और कई लड़कों को कारीगर बनाकर कमाने-खानेलायक बना दिया।

धीरे-धीरे अब नाहरसिह पर बुढापा सवार होने लगा। आँखे कमजोर हो चली। नाहरसिह फिर मेरे पास आया और बोला, "मुझसे अब यह गलीचे का काम नही होगा, कुछ और काम दीजिये। आखे काम नही दे रही है, और बुढापे की कमजोरी भी आ रही है।"

चिड़ावा जानेवाली सड़क के दोनो ओर मैंने वृक्ष लगवाये थे। ऊँट और गाये उन्हे बीच-बीच मे खाकर नुकसान पहुँचाती थी। इसलिए उनकी रखवाली के लिए एक चुस्त रक्षक की जरूरत थी। मैंने पूछा, "नाहरसिह, वृक्षों की रखवाली का काम करोगे?"

"हाँ, यही तो राजपूत के लायक काम है। अबत[illegible] [illegible] मुझ छोटा काम सौप रखा था। राजपूतो का काम तो रक्षा करना है, और वह मुझे पसन्द है।"

दूसरे दिन नाहरसिह रखवाली के लिए सजकर आया। अपनी सफेद दाढी पर कलप चढा ली और वही पुरानी साँग और बर्छी, पीठ पर ढाल, कमर मे तलवार और कटार लटका-कर खासा अच्छा साफा बाँधकर वह हाजिर हुआ। देखता हूँ, साथ मे एक टट्टू भी लाया। मैने पूछा, "यह क्या है ?" "यह टट्टू मैने बारह रुपये मे ख़रीदा है। बिना सवारी के राजपूत शोभता नही।"

दूसरे दिन टट्टू पर चढकर नाहरसिह रणबाँका राजपूत बनकर रखवाली के लिए सफर पर निकला। टट्टू पूरा टिघण था, इसलिए नाहरसिह जब सवार होता तो उसके पाँव करीव-करीब जमीन को छू जाते थे। लोग हँसकर मुँह फेर लेते थे, क्योकि नाहरसिह के मुँह के सामने हँसना अब भी खतरनाक था।

नाहरसिह के ससार की गाडी इस तरह चलती जाती थी, और वह बुड्ढा भी होता जा रहा था।

पर इसी बीच मे एक अद्भुत घटना घट गई। नाहरसिह पर इश्क का भूत सवार हो गया—"सारे आजारो से वढकर इश्क का आजार है।"नाहरसिंह भी इस आजार के सपाटे मे आ गया। एक जाटनी थी। वह भी अपने पति की हत्या करके नाहरसिह की तरह जयपुर-जेल मे जनम-कैद काटकर आई थी। नाहरसिह को अपने लिए एक साथी की आवश्यकता महसूस होती थी, और जव यह जाटनी मिली तो उसे वह जोडी पसन्द

और [illegible]सिह ने झटपट उससे शादी कर ली। जाटनी नाहरसिह से उम्र मे छोटी थी, पर गुणो मे उससे पूरा मुकावला करनेवाली थी। शादी के कुछ दिनो बाद ही उस जाटनी के पराक्रम का नाहरसिह को पता चल गया। जाटनी ने नाहरसिह को पीटना शुरू कर दिया। वह 'नाहर' और 'सिह', जिसका गाँव मे तहलका था, अब उस जाटनी के सामने भीगी बिल्ली हो गया। नाहरसिह घर के बाहर तो अब भी शेर था, पर घर के भीतर था पूरा बिल्ली। नाहरसिह को जो तनख्वाह मिलती, वह सारी-की-सारी जाटनी अपने पल्ले मे बाँध लेती थी। नाहरसिह सिवा खाने-पीने के नकद से पूरा वंचित हो गया।

**जरदार मरद नाहर घर रहो या बाहर;**
**बेजर का मरद बिल्लो, घर रहो या दिल्लो।**

नाहरसिह 'बेजर' हो गया और बिल्ली भी हो गया। पर नाहरसिह की शान और शौकत घर के बाहर वही थी, जो पहले थी। उसमे कोई भी कमी नही हुई। अब नाहरसिह और बुड्ढा हो चला। एक दिन आकर बोला, "सरकार, अब तो पेंशन कर दीजिये। घोड़े पर अब नही चढा जाता।" मैने कहा, "अच्छा, पेंशन ले लो और 'राम-राम' करते रहो!"

नाहरसिह अब पेंशन से जीवन व्यतीत कर रहा है। ८६ साल का हो गया है। जब-जब पिलानी जाता हूँ, नाहरसिह मुजरा करने आता है। वही दाढी और मूँछों की सजावट, वही ढाल, तलवार, कटार, वही माँग और बर्छी। केवल एक परि-वर्तन हुआ है। नाहरसिह के एक हाथ में बर्छी है, तो एक हाथ मे

माला—वह एक तरफ अपनी शान की अकड़ निभाता है, और दूसरी ओर 'राम-राम' भी जपता रहता है।

नाहरसिंह एक अविस्मरणीय व्यक्ति है, जिसे भूलना असम्भव है।

## १४ | मुझसे सब अच्छे

मुझे सवेरे टहलने की आदत है। प्रातःकाल की शुद्ध हवा मनुष्यों को नया जीवन देती है। जब-जब मै घर पर रहता हूँ, सवेरे का भ्रमण एक प्रकार का नियम-सा हो गया है। एक रोज सवेरे टहलने निकला तो वायु की परमार्थ-वृत्ति पर विचार करने लगा।

पश्चिमी हवा चल रही थी। मैने सोचा, यह वायु कितने परिश्रम के बाद यहाँ पहुँची होगी। कहाँ से चली, कितना उपकार किया, इसका अन्दाजा कौन लगाये! भारत का पश्चिमी सागर यहाँ से करीब ६०० मील होगा, किन्तु इसके आगे अफ्रीका तक केवल निर्जन समुद्र-ही-समुद्र है। सम्भवतः उससे भी पश्चिम और पश्चिमतर के प्रदेशो, पहाड़ियों, नदियो, समुद्रों, मनुष्यो, जीव-जन्तुओ को दर्शन देती हुई यह वायु यहाँ पहुँची होगी, और अब यहाँ के लोगो को सुख देती हुई अपने कर्तव्य-पालन के लिए, शान्त भाव से पूर्व प्रदेशों की ओर अग्रसर होगी।

मैने सोचा, यह हवा इतनी सेवा करती है, फिर भी अख-बारो मे इसकी चर्चा क्यो नही होती! हवा से मैने कहा—"हवा, तुम ससार का इतना उपकार करती हो, किन्तु तुम्हारी सेवा की खबर मै अखबारो मे तो कभी नही पढता! तुमको चाहिए कि

जो थोडी-सी बात करो, उसको वढा-चढाकर अखबारो मे छपा दिया करो।" हवा ने कहा—"कौन-सा अखवार अच्छा है ?" मैने कहा—"हिन्दी-अग्रेजी के बहुत-से अखबार है। सभी मे अपनी प्रशसा छपाया करो।" हवा ने पूछा—"क्या सूर्यलोक एव चंद्रलोक मे भी तुम्हारे यहाँ के अखबार जाते है ?" मैने कहा—"वहाँ तो नही जाते।"

हवा ने मेरी मूर्खता पर हँस दिया और कहा—"तुम पक्के कूप-मडूक हो, तुम्हारे लिए थोडे-से लोग ही ब्रह्माण्ड है। मैने तो प्राणिमात्र की सेवा का व्रत ले रखा है, और मेरा अखबार है मेरे ईश्वर का हृदय। वहाँ सब खबरे अपने-आप पहुँचती है—भली-बुरी सभी बाते वहाँ छपती रहती है। किसी बात का वहाँ पक्षपात नही। किसीके कहने से वहाँ कोई ख़वर नही छापी जाती। सच्ची खबरे वहाँ स्वय छप जाती है। मै तुम्हारी तरह मूर्ख नही, जो विज्ञापनबाजी की दलदल मे फँस जाऊँ। नि स्वार्थ भाव से प्राणिमात्र की सेवा करना, यही मेरा धर्म है और मेरे स्वामी को भी यही प्रिय है। अच्छा हो, तुम भी मेरा अनुकरण करो।"

हवा की यह स्पष्टोक्ति मुझे वडी बुरी लगी। मै, और हवा-जैसी जडवस्तु का अनुकरण करूँ! मन मे आया कि एक व्याख्यान ही झाड दूँ। अखवारो मे तो उसका अतिरजित विवरण छप ही जायगा। किन्तु हवा को तो "लगन लागी प्रभु पावन की," उसे मेरा व्याख्यान सुनने की फुरसत कहाँ! वह तो **कामये दु ख-तप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्** गाती हुई शीघ्रता से चल निकली।

तव मैने अपना सारा गुस्सा एक ऊँट पर उतार दिया। वात यह हुई कि रास्ते मे एक ऊँट महाशय अपनी थकान उतारने के

लिए हाथ-पाँव पीट-पीटकर धूल उछाल रहे थे। मैंने गर्द से तंग आकर क्रोध मे, ऊँट से कहा—"तुम बड़े गँवार हो, जरा भी तमीज नही। पशु ही जो ठहरे! हम लोग जिन रास्तों से होकर निकलते है, उनमे गरीब मनुष्य भी किनारे खड़े होकर झुककर हमें प्रणाम किया करते है। हम जब-जब टहलने जाते है, तब-तब हमारे लठैत नौकर रास्ते मे चलनेवालो का नाकोदम कर देते है। तुमने हमें झुककर प्रणाम करना तो दूर रहा, उलटा धूल उछालना शुरू कर दिया! इसीसे मालूम होता है कि तुम गँवार भी हो और धृष्ट भी।"

इस पर ऊँट ने अपना व्यायाम करना तो वन्द कर दिया, पर वह मेरी वात सुनकर खिल-खिलाकर हँस पड़ा। वोला—"तुम मूर्ख तो हो ही, किन्तु अभिमानी भी हो। अभी तो तुम पवन को उपदेश देने की धृष्टता कर रहे थे। पवन तो आदर्श सेवक है, ईश्वर-भक्त है, उसने तुम्हे कुछ नही कहा, किन्तु मुझे उपदेश देने की धृष्टता मत करना! वस, यह समझ लो कि मुझसे तुम वहुत गये-वीते हो।" मैने कहा—"ऊँट, तू पशु होकर मनुष्य को उपदेश देने चला है! मुझे तेरी वुद्धि पर तरस आता है।" ऊँट की मुखाकृति गम्भीर हो उठी, आँखों में तेज चमकने लगा। अपने नयनो को फटकारकर उसने कहा—"क्या केवल मनुष्य-देह मिलने से ही मनुष्य अपने को मनुष्य कहने का अधिकारी हो जाना है? क्या औरंगजेव, नादिरशाह, महमूद गजनी, हत्यारा अब्दुर्रशीद या कंस, दुर्योधन और ऐसे-ऐसे अनेक अपने-को मनुष्य कहने के अधिकारी हो सकते है? और उन्हे मनुष्य-देह मिल गई, इसी विर्ते पर क्या वे अपने को हम पशुओं से ऊँचा समझते है? यदि तुम भी ऐसा मानते हो तो तुम्हारी वुद्धि को

हजार बार धिक्कार है।"

मै कुछ ठण्डा पड गया। मैने कहा—"भाई ऊँट, उन पापी मनुष्यो की बात न करो। वे नर-राक्षस थे, किन्तु मै तो ऐसा नही हूँ। मै तो अपने लिए कह सकता हूँ कि अपनी समझ मे, मै तुमसे कही अच्छा हूँ।" ऊँट फिर हँस पडा। कहने लगा—"अच्छा, जरा बता तो दो, तुममे मुझसे कौन-सी अच्छी बात है ?"

मै सोचने लगा, क्या बताऊँ ? आखिर मुझमे कौन-कौन-सी अच्छी बाते है, जिनका मै गर्व कर सकूँ ? अत्यन्त साहस करके मैने दबी जबान से कहा—"अच्छा, तो देखो, तुम जानते हो मै त्यागी लोगो से कितना प्रेम करता हूँ, खादी पहनता हूँ, यह क्या कुछ कम है ?" ऊँट ने गर्व के साथ कहा—"इसमे गर्व करने की क्या बात है ? मुझे देखो, मै तो कुछ भी नही पहनता।" मैने कहा—"और सुनो, मै भोजन भी सादा खाता हूँ, मिर्च-मसाले नही खाता।" ऊँट ने कहा—"अच्छा त्याग किया ! मुझे तो देखो, केवल सूखी पत्तियाँ चबाकर रह जाता हूँ।" मैने कहा—"मैने तो गृहस्थाश्रम का भी त्याग कर दिया है।" ऊँट ने कहा—"क्यो झूठा अभिमान करते हो ? मैने तो गृहस्थाश्रम मे प्रवेश ही नही किया, सो मैं तो बाल-ब्रह्मचारी हूँ।" मैने कहा—"मुझमे ईर्ष्या-द्वेष अधिक नही, झूठ बहुत कम बोलता हूँ, सो भी अनजान मे, रोष भी कम आता है।" ऊँट ने कहा—"इसमे कौन-सी बड़ाई की बात है ? मुझमे न ईर्ष्या है, न द्वेष, और न क्रोध, झूठ तो कभी जीवन मे बोला ही नही।"

मैंने कहा—"मुझमे सेवावृत्ति है।" ऊँट ने कहा—"इसका नमूना तो हम रोज देखते है। कल एक पीला बछडा रो रहा था, क्योकि उसकी माँ का दूध नित्य-प्रति तुम पी लेते हो। बछडा

तृण खाकर जीवन-निर्वाह करता है। उस दिन, मुनते है, तुमने एक घोड़े को भी दौड़ कराकर मार डाला। शहर के तमाम घोड़ो मे इस बात की चर्चा थी। उनकी एक विराट् सभा हुई थी। उसमे मृतक के प्रति सहानुभूति और तुम्हारे प्रति घृणा-सूचक प्रस्ताव भी पास किये गए थे। न मालूम इस प्रकार तुमने कितने ऊँटो, घोडो और बैलो को कष्ट दिया है। कितने पशुओ को लँगडा किया है। कितनो को अपनी मोटर के धक्को से गिराया है। अच्छा सेवा का दम भरने चले हो! मुझे देखो, न कपड़े पहनता हूँ और न जिह्वा-स्वाद का नाम-मात्र भी सम्बन्ध है। केवल सूखे तृण खाता हूँ, फिर भी बेत, कोड़े और ठोकरे खाता हुआ नम्रता-पूर्वक तुम लोगो की सेवा करता हूँ। इसीको सेवा-व्रत कहते है। तुम लोगो से सेवा कैसे सम्भव है? पहनने के लिए तुमको कीमती वस्त्र चाहिए, खाने के लिए सुस्वादु भोजन, सेवा के लिए नौकर, रहने के लिए महल, टहलने के लिए अच्छे वाहन या मोटर। सफर करते हो तो मनो सामान एव सुख-सुविधा की सामग्रियाँ साथ चलती है और तुम्हारे लिए बोझा ढोना पडता है हमको। अकाल पडता है तो हम लोग भूखो मरते है, पीने को पानी नही मिलता, किन्तु तुम्हारे बगीचो की फुलवाडी को सरसब्ज रखने मे ही गाँव के अनेक बैलो की शान्ति नष्ट हो जाती हैं। हम लोग प्राय ब्रह्मचारी रहते है, किन्तु मुनते है, तुम्हारा मनुष्य-समाज इसमे बडा पतित है। शर्म की बात है कि इसपर भी तुम अपने-को श्रेष्ठ समझो!"

ऊँट की बात मेरे हृदय मे चुभ गई। मुझे ग्लानि होने लगी। अन्तरात्मा कहने लगी—"मूर्ख, तू ऊँट से भी गया-बीता है।" पास खड़े हुए करील के वृक्ष ने सिर हिलाकर कहा—"ऊँट सच

कहता है।" तब मैने कहा—"प्रभो, मुझे ऊँट-जितना आत्म-बल दो !"

सहसा आकाश मे बिजली चमकी। मेघ गरजा। सुनने-वालो ने सुना। कहनेवालो ने कहा

**मो सम कौन कुटिल खल कामी !**
**जेहि तन दियो ताहि बिसरायो,**
**ऐसो निमकहरामी ।**
**मो सम कौन कुटिल खल कामी !**

किसीने कहा—"कहनेवाला और सुननेवाला दोनो एक है।" किसीने कहा—"यह अन्तर्नाद है।"

मैने चिल्लाकर कहा—"मुझसे सब अच्छे है !"

**मार्गशीर्ष १९८४**